पुस्तक :	प्रभवप्रबोध काव्यम्
लेखक :	श्री चन्दनमुनि :
भूमिका :	मुनि श्री नगराज जी डी. लिट्
अनुवादक :	मुनिश्री दुलहराज जी
टिप्पण लेखक :	मुनि श्री सुमेरमल जी 'सुदर्शन'
कथा परिचय :	मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'द्वितीय'
धारक :	श्री सोहनलाल चण्डालिया
व्यवस्था-संपर्क .	साहित्य सौरभ ६४. ए. एम. लैन चिकपैठ बेंगलूर-२-A
प्रकाशक :	नगीनभाई छोटालाल शाह 'स्मित किरण' ३७७, स्वामी विवेकानन्द मार्ग विलेपारला, बम्बई-५६
प्रथम आवृत्ति :	जनवरी, १९७०
मूल्य :	३) ५०

मुद्रक :—रामनारायण मेड़तवाल,
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस
राजा की मंडी, आगरा-२

प्रकाशकीय :

वि० सं० २०२० में जब मुनिश्री चन्दनमल जी बम्बई के मेरीन-ड्राईव-स्थित अणुव्रतसभागार (राजहंस भवन) मे चतुर्मास की पूर्तिकर फोर्ट एरिया मे लोंकागच्छ के उपाश्रय मे विराजमान थे। सुश्री जया बहन की प्रेरणा से हम दोनों [पति-पत्नी] को मुनि श्री के दर्शन और परिचय का लाभ मिला। उनकी अध्यात्ममयी वाणी की हम पर गहरी छाप पड़ी। सही कर्तव्य की सूचना मिली। सुप्त चेतना जागृत हो उठी। उसके बाद यदा-कदा दर्शन और सत्संग का लाभ मिलता रहा। जब मुनिश्री विहार करते हुए खार मे पधारे जो हमारे निवास-स्थान से काफी निकट है, वहाँ हमे प्रतिदिन प्रातःकालिक तात्त्विक प्रवचन सुनने का सुअवसर मिला। लगभग एक मास के सत्संग से विशेष निष्ठा पैदा हुई। मेरी भक्ति-पूर्वक प्रार्थना पर ध्यान देते हुए मुनि श्री विलेपारला स्थित स्मित-किरण [मेरे निवास स्थान] मे पधारे, जहाँ हम लोगों को पच्चीस-छब्बीस दिन का अनवरत लाभ मिला। आस-पास के भाई बहनो को भी सत्संग का अच्छा मौका मिला। शास्त्र वाणी सुनने से जीवन मे एक नया निखार आया। गुरुवर्य आचार्य श्री तुलसी के सुजानगढ़ [राजस्थान] मे जाकर दर्शन किए और चातुर्मास की माग की। फल-स्वरूप वि० स० २०२१ का चातुर्मासिक-प्रवास भी मुनिश्री का विले पारला-स्थित साधनाश्रम मे हुआ। यह स्थान बड़ा अनुकूल एवं एकान्त का था। वहाँ हमे सत्संगति का अनोखा लाभ प्राप्त हुआ। प्रातः आगमिक ज्ञान का श्रवण एवं रात्रि में प्रतिदिन पच्चीस बोल, तेरह द्वार, जैन सिद्धान्त दीपिका आदि की तात्त्विक-चर्चाएं चलती थी। हमारे बच्चे भी यथासमय कुछ तात्त्विक ज्ञान सीखते रहे। जैन धर्म के महान सिद्धान्त हृदयगम हुए। जीवन मे आश्चर्यकारी परिवर्तन हुए। इस प्रकार मुनि श्री का हमारे ऊपर असीम उपकार रहा है, जिसका सम्पूर्ण वर्णन कर पाना मेरे लिए कठिन है। जब-तब हम उसे याद करते है तो रोमाचित हो उठते है और श्रद्धा से नतमस्तक बन जाते हैं।

बहुत समय से यह हार्दिक भावना थी कि मुनिश्री जी के किसी वैराग्य-मय साहित्य का हम प्रकाशन कराएं। समय ने साथ दिया एवं भावना साकार बनी। परम पूज्या मातु श्री की पावन स्मृति मे 'प्रभव-प्रबोध' नामक काव्य के प्रकाशन का सुअवसर मिला, जो अत्यन्त प्रेरणादायी, रुचिकर एव जैन जगत की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। जिसे पढता हुआ विषयासक्त मन विरक्ति की ओर बढ जाता है और अध्यात्म की लौ जलने लग जाती है। जो मुनि श्री चन्दनमल जी की गद्यमय संस्कृत मे ललित, सरस, सरल एव सुबोध कृति है।

यह कृति संस्कृत मे होने के कारण हमारे जैसों के लिए सुगम नही थी, परन्तु शिक्षा-निकाय-व्यवस्थापक मुनि श्री दुलहराज जी, जो अंग्रेजी, कन्नड, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के विज्ञ, आगम-संशोधन मे निकाय सचिव मुनि श्री नथमल जी के अनन्य सहयोगी एक मूक साहित्य-कार है, उन्होने इसका हिन्दी में अनुवाद करके जन साधारण के लिए विशेष उपयोगी बना दिया। वैसे ही मुनि श्री सुमेरमल जी (सुदर्शन) ने इसका टिप्पण लिखकर पुस्तक की उपयोगिता पर चार चाद लगा दिए है। संस्कृत पढने वाला हर पाठक कठिन शब्द एवं समासो को टिप्पण के द्वारा सुगमता-पूर्वक समझ सकेगा और बोध-वृद्धि के साथ काव्य के तात्पर्य को हृदयंगम करता जाएगा। अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराज जी डी० लिट् ने महत्व-पूर्ण भूमिका लिखकर पुस्तक के गौरव मे अभिवृद्धि की है तथा मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी 'द्वितीय' ने अंग्रेजी में 'कथा परिचय' देकर आग्ल-विद्वानो के लिए भी एक आकर्षक उपक्रम प्रस्तुत कर दिया है।

साहित्य सौरभ के सक्रिय कार्यकर्त्ता श्री ब्रह्मदेवसिंह जी (गोंड़े) ने अथ-से-इति तक प्रकाशन व्यवस्था का कार्य संभाला, इसे सुन्दर ढंग से मुद्रित कराने की व्यवस्था की है। अतः सहयोगी बन्धुओ की मैं कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ।

'स्मित करण'
१५ सितम्वर १९६९
वम्बई

निवेदक
नगीन भाई, सुशीला बहन, शाह

भूमिका

वौद्धिकेन वैज्ञानिकेन च वर्तमानयुगेन न केवलं चन्द्रसंम्बद्धा पौराणिकी धारणैव निरस्तीकृता, अपितु तेन जीवनस्यान्येपि बहवो विश्वासा झंझावातमानीताः। भाषापि कथमपवादरूपास्य भवितुमलमासीत्। विभिन्नेषु धर्मेषु विश्वासोऽयं परिपुष्टोऽस्थात् यदष्माकीनानां शास्त्राणां भाषैव देवानां भाषा। सैव च मानवस्य मौलिकी भाषा। भाषासंसर्गविरहितस्य नवजातस्य शिशोः स्वतःस्फूर्ता भाषाऽपि सैव भविष्यति नाऽत्र लेशतोपि संदेहः।

वर्तमानेऽस्मिन् युगे एतादृशा विश्वासा उपहासयोग्याऽभूवन्। देवा कां भाषामनुसरन्ति इत्यस्मिन् विषये न तत्र किमपि बुद्धिगम्यं सर्वसम्मतं वा प्रमाणं। किंवदन्तीनामभिप्रायो नाऽतोधिकं किमपि वरिवर्ति यत् स्वकीयं स्वकीयं शास्त्रगौरवमभिव्यञ्जयितुं विभिन्नैर्धार्मिकैः स्वशास्त्रभाषामेव देवभाषेति व्याजहिरे। पुनश्चैतत्तु प्रयोगसिद्धमेव संजातं यद् भाषा-संसर्गविरहितः शिशुर्न कामपि भाषा जल्पिस्यति प्रत्युतं स मूक एवावस्थास्यति।

अद्य कस्यापि भाषाया गौरवं किंवदन्तीनां प्रशस्तिगाथानाञ्च पृष्ठभूमौ न स्थातुमर्हम्। अधुना तु कापि भाषा स्वकीयस्य यथार्थस्य धरातलैव गौरवान्विता स्थातुमर्हति।

विलक्षणमेतद् यत् संस्कृतं सा देवभाषा, सा च वेदानामपौरुषेयभाषेति किंवदन्तीभ्यः प्रशस्तिसूत्रेभ्यश्च पृथगपि कुर्वीरन्, न तथापि तद्गरिमा किञ्चिदपि लघिमाणं प्राप्स्यति। चकास्ति सा तु यथार्थाऽऽधारा। जैनवौद्धवैदिकसंस्कृतीनां समवायीरूपा भारतीया संस्कृतिः। संस्कृतीनागस्य धारात्रिकस्य संगमः पवित्रे संस्कृत प्रयाग

एव स्यात्, तत एव च ता भारतीय-संस्कृतौ परिणता भवन्ति। अनेन हेतुना भारतीयसंस्कृतेः संस्कृतस्य चाऽविच्छिन्नः सम्बन्धो भवति। ऋते संस्कृतं भारतीयसंस्कृतेरस्तित्वमप्यविचारणीयम्।

भाषाबहुले विचारबहुले च युगेऽस्मिन् संयमप्रधाना भारतीया-संस्कृतिः, सस्कृतिप्रधाना संस्कृतभाषा च म्रियमाणेव प्रतीयते। अस्यां स्थितौ भगीरथोऽयं चन्दनमुनिः संस्कृतस्य संस्कृतेश्च मन्दाकिनी नव-संततिषु प्रवाहयन् धन्योस्ति वदान्योऽस्ति।

भारतीयजीवनपरंपराया आदर्शोऽभवत्—

भवनेषु सुधासितेषु पूर्व क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्॥

प्रभवप्रबोधकाव्यं प्रस्तौति घटनाद्वयीमनेनैवादर्शेनानुप्राणिताम्। जम्बूकुमारः पाणिग्रहणस्य प्रथमविभावर्यामेव नवोढाष्टकं परित्यजति। प्रतिबोधञ्च दत्वा सर्वा अपि ताः स्व-साधनामार्गसहचारिण्यो-ऽकार्षीत्। प्रभवः राजकुमारोपि चोरमूर्धन्योप्यासीत्। स च जम्बूकुमारस्य विरागवैशिष्टयं विलोक्य प्रव्रज्यां स्वीकरोति त्याग-भावनाया उत्कृष्टमेतदुदाहरणमलम्। सुधाश्वेतप्रासादाऽऽमोदैं-रसंश्लिष्टौ राज्यसिंहासनैरस्पृष्टौ एव द्वावपि तरुवासिनौ बभूवुः। घटनाप्रसंगस्त्वाद्योपान्तं प्रेरको लोमहर्षकश्च वरिवर्ति। अर्थजां कामजामासक्तिवल्लरीमुद्वेलयितुं झञ्झावात एव सोऽस्ति।

अस्यामेव छायायामेकः कश्चित् घटनाप्रसंगः बौद्धसाहित्येऽपि सुलभोऽस्ति। सोणकोटिकर्णः स्वकीयं निस्सीमं वैभवं कोटिमूल्य-लभ्यकर्ण-कुंडले च विहाय बुद्धस्य विश्रुतशिष्यस्य कात्यायनस्य सविधौ दीक्षां कक्षीचकार। तस्य कोटिकर्णस्य बुद्धादपि साक्षात्कारो-ऽभवत्। कस्मिंश्चिद् दिने स स्वकीयां वैराग्यकथां महत्यां परिषदि वक्तुमारभेत। परिषदपि वैराग्यसागरनिमज्जिता इव प्रवर्तमानाऽ-भवत्। विश्रुतधनाढ्या काली कुररघरिकाऽपि कथारसप्लाविताऽऽ-सीत्। तदानीमेव तस्या विश्वस्तया दास्या समुपेत्य भणितं—"स्वामिनि! चौराणां नवशतकेनोत्खन्यतेऽस्माकं दुर्गोपमः प्रासादः, त्वरया गृहं व्रज।" काल्या कुररघरिकयाऽभाणि, "हले! गच्छतु

तद्धनं, मया त्वत्रैतादृग् धनं संचिनोमि तदगम्यम्।" गुप्तचरेणेव दास्यनुलग्नेन चोरनायकेनाप्येतदश्रावि। सोप्यगम्यधनातुर तत्रैव तस्थौ कथाश्रवणे च प्रवृत्तः। कोटिकर्णस्य विरागकथां कालीकुररघरिकायाश्च निस्पृहवाणी संश्रुत्य चोरनायकोऽपि मनस्यचिन्तयत्-धिक् मां! एतैस्तु निजमपि परित्यक्तमहं तु परमप्यादातुं व्यामुग्धोऽस्मि। इत्थं प्रतिबुद्धस्तस्करनायको निजानुगामिभिर्नवशतैः तस्करैः सह कोटिकर्णभिक्षोरन्तिके प्रवव्राज।

कथाप्रसंगस्य चारुता श्रीचन्दनमुनेः रचना-पाटवेन चतुर्गुणीभूतेव प्रतीयते। सरसा च सहजा शब्दावलिः मनोहारिणी च भावाभिव्यंजना संवर्धयति पिपठिषां पाठकानाम्। स्थितिचित्रणे तु क्वचित् क्वचित् लेखकः महाकविकालिदासमेव स्मारयति। अनुवर्तिनि राज्ञि दुष्यन्ते कान्दीशिको मृगः कथमिव धावतीति चित्रणे कालिदासो व्याजहार—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति वहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

अनुधावति दुष्टे गजे भयद्रुतो मनुष्यः कथमिव प्रधावतीति चित्रणे मुनिमलयजः समुद्गिरति—

'स्वसत्तया विस्मार्यमाण इव, द्विपादपि सहस्रपादिवाऽरार्यमाणः, भूमिं स्पृशन्नपि विहायसोड्डीयमान इव अग्रे किमस्तीत्यनालोकमानः ललाटपट्टलम्बमानैः प्रस्वेदबिन्दुभिः क्षोणीं स्नपयमानः, धमनिकावेगैरानपानैः सोद्वेगमाध्मायमानः, वटवृक्षाधस्तने मरकतसदृशसान्द्रबालार्जुनाऽऽस्ततेनातिदूरादपि समभूभागभ्रान्तिं बिभ्राणे कूपे वालैः क्रीडाकाष्टेनाहतो गेन्दुक इव पतनोन्मुखो बभूव।"

मन्ये, म्रियमाणस्य धावमानस्य मनुजस्य गजप्रतियोगितायाश्चित्रणे लेखकेन स्वयं कालिदासेन समं प्रतियोगितैव विहितास्ति। तस्याञ्च स पराजितोऽपि न प्रतीयते।

श्लाघ्यो श्रीचन्दन मुनिः स्वनामधन्यानां तेरापन्थस्य नवमाऽचार्याणां श्रीतुलसीगणीनां सहपाठित्वेनाऽवर्तिष्ट। तच्च तेन स्ववैदुष्य-परिपूर्णाभिः कृतिभिश्चरितार्थमपि कृतम्।

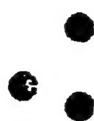
श्रीचन्दनेन मुनिना संस्कृतप्राकृतादिभाषाषु बह्व्योपि रचना समुपढौकिताः। ताः सर्वा अपि जनमात्माऽभिमुखत्वेन समलंकर्तुं, सत्याय शिवाय प्रेरयितुमेव बद्धलक्ष्याः सन्ति। अस्मादभिप्रायात् श्रीचन्दनमुनिः विरलेषु चैतादृशेषु कविषु गणितो भवति येषां श्लाघायां स्वनामविश्रुतेन पंडितजगन्नाथेन कथयाम्बभूव—

शृंगारादिसमुज्ज्वलरचनापटवः क्षितौ न के कवयः?
ते तु नितान्तं विरला आत्म-ज्ञानाय वाग् येषाम्॥

२७-१२-६९

मुनि नगराजः

अणुव्रत सभागारः
बम्बई



भूमिका (हिन्दी)

बुद्धि और विज्ञान के वर्तमान युग ने चन्द्र-विषयक पौराणिक धारणाओं को ही केवल निरस्त नही किया, अपितु जीवन की अन्य अनेक मान्यताओ को भी उसने झकझोर दिया है। भाषा भी इसका अपवाद कैसे रह सकती थी। विभिन्न धर्म यह मानते रहे कि हमारे शास्त्रो की भाषा ही देवो की भाषा है। हमारे शास्त्रों की भाषा ही मानव की मूलभूत भाषा है। नवजात शिशु को भाषा संसर्ग से सर्वथा अछूता रखा जाये तो उसकी स्वत: स्फूर्त भाषा भी वही होगी, इसमे तनिक भी सन्देह नही है।

वर्तमान युग मे ये धारणाएं उपहास योग्य-सी बन गई है। देव कौनसी भाषा बोलते है, इस विषय मे सर्वसम्मत या बुद्धिगम्य आधार कुछ भी नही है। किंवदन्तियो का अभिप्राय इससे अधिक नही निकलता कि अपने-अपने शास्त्रो का गौरव स्थिर करने के लिए विभिन्न लोगो ने अपनी-अपनी शास्त्र-भाषा को ही देव-भाषा कहा। यह तो प्रयोग-सिद्ध विषय बन गया है कि नवजात शिशु को यदि भाषा-संसर्ग से सर्वथा वंचित रखा जाए तो वह कोई भी भाषा नही बोलेगा; अपितु वह गूंगा (मूक) ही रह जायेगा।

आज किसी भी भाषा का महत्व किंवदन्तियो एवं प्रशस्ति गाथाओं पर नही टिक सकता। आज तो कोई भी भाषा अपने यथार्थ पर ही गौरवान्वित रह सकती है।

विलक्षणता की बात यह है कि सस्कृत भाषा को हम देव-भाषा, वेदो की अपौरुषेय भाषा आदि किंवदन्तियो एवं प्रशस्ति-गाथाओ से मुक्त भी कर लें तो भी उसकी गरिमा किंचित् भी न्यून नही हो जाती। वह यथार्थ पर आधारित है। जैन, बौद्ध और वैदिक; इन तीनो संस्कृतियो का समवायी रूप भारतीय संस्कृति है। संस्कृति की इन तीनो धाराओ का संगम संस्कृत के पवित्र प्रयाग पर ही होता है। और वही से वे भारतीय संस्कृति का रूप

लेती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति और संस्कृत का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सस्कृत के अभाव मे भारतीय संस्कृति का अस्तित्व नही सोचा जा सकता।

भाषा-बाहुल्य और विचार-बाहुल्य के इस युग मे संस्कृत और संस्कृति म्रियमाण-सी प्रतीत हो रही हैं। भगीरथ श्री चन्दन मुनि संस्कृत और संस्कृति की मन्दाकिनी को नई पीढी तक पहुँचा कर धन्य और वदान्य है।

भारतीय जीवन का आदर्श रहा है—

भवनेषु सुधासितेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्॥

प्रभव प्रबोध काव्य इसी आदर्श के दो उदाहरण प्रस्तुत करता है। जम्बू कुमार विवाह की प्रथम रात्रि मे ही अपनी आठ नवोढाओ का परित्याग करते हैं और उन्हे प्रतिबोध देकर साधना के बीहड मार्ग मे अपनी सहचारिणी बना लेते है। 'प्रभव' राजकुमार भी है और चोरो का सरदार भी है। वह जम्बू कुमार की त्याग-वृत्ति से प्रभावित होकर प्रव्रज्या स्वीकार कर लेता है। त्याग के ये दोनों उत्कृष्ट उदाहरण है। सुधाश्वेत महलो का आमोद बिना उठाये ही तथा राज सिंहासन पर बिना बैठे ही दोनो कुमार वार्क्षमौलिक हो गये। घटना-प्रसंग प्रेरक और लोमहर्षक है। अर्थ और काम की आसक्ति मूलक बल्लरी के लिए एक उद्वेलक झंझावात ही है।

इसी छाया का एक घटना-प्रसंग बौद्ध साहित्य मे भी मिलता है। सोण कोटिकर्ण अपनी अगाध धन-सम्पत्ति का तथा कोटि मूल्य के कर्ण-कुण्डलो का परित्याग कर बुद्ध के प्रमुख शिष्य कात्यायन के पास दीक्षित हुआ। उसने बुद्ध से भी साक्षात्कार किया। एक दिन वह एक महती परिषद् मे अपनी वैराग्य-कथा सुना रहा था। परिषद् भी एकाग्र चित्त होकर वैराग्य के सागर मे डूब रही थी। धनाढ्य काली कुररघरिका भी कथा-श्रवण मे निमग्न थी। उसकी दासी ने आकर कहा—"स्वामिनि! अपने दुर्गोपम प्रासाद मे ९०० चोर सेंध लगा रहे है। तुम शीघ्र घर चलो।" काली कुररघरिका ने कहा—"वह धन जाता है तो जाने दो। मुझे यहा ऐसा धन मिल रहा है, जो कही जा ही नही सकता।" चोरो का सरदार जो गुप्तचर के रूप मे दासी के पीछे-पीछे आया था, उसने भी यह बात सुनी। अगम्य

धन की लालसा मे वह वही रुक गया और कथा सुनने लगा। कोटिकर्ण भिक्षु की वैराग्य-कथा तथा काली धनाढ्या की निस्पृह वाणी को सुनकर चोरो का सरदार भी सोचने लगा—धिक्कार मुझे, ये लोग जो अपना है, उसे भी छोड़ चुके हैं और मैं जो पराया है, उसे भी उठाने जा रहा हूँ। प्रतिबुद्ध चोरो का सरदार अपने ६०० अनुयायी चोरों सहित कोटिकर्ण भिक्षु के पास दीक्षित हो गया।

कथावस्तु की श्रेष्ठता मे चन्दन मुनि के रचना-पाटव ने और भी चार चांद लगा दिये हैं। सरस और सहज शब्दावलि, सुन्दर भावाभिव्यंजना पाठक की पिपठिषा को बढाती है। स्थिति चित्रण मे कही-कही तो लेखक महाकवि कालिदास की ही याद दिला देता है—राजा दुष्यन्त के पीछे पड़ने पर भयातुर मृग किस स्थिति मे दौड़ रहा है, इसका चित्रण करते हुए कालिदास कहते हैं—

> ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
> पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
> दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
> पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

दुष्ट गज के पीछे पड़ जाने पर भयातुर मनुष्य किस स्थिति मे दौड रहा है, इसका चित्रण करते हुए मलयज मुनि कहते हैं—"स्वसत्तया विस्मार्यमाण इव, द्विपादपि सहस्रपादिवाऽऽर्यमाणः, भूमिं स्पृशन्नपि विहायसोड्डीयमान इव अग्रे किमस्तीत्यनालोकमानः, ललाटपट्ट-लम्बमानैः प्रस्वेदविन्दुभिः क्षोणी स्नपयमानः, धमनिकावेगैरानपानैः सोद्वेगमाध्मायमानः, वटवृक्षाधस्तने मरकतसदृशसान्द्रवालार्जुना ऽऽस्ततेनातिदूरादपि समभूभागभ्रान्ति विभ्राणे कूपे बालैः क्रीडा-काष्टेनाहतो गेन्दुक इव पतनोन्मुखो बभूव।"

लगता है, म्रियमाण और धावमान मनुष्य की दौड़ का वर्णन करने में लेखक ने स्वयं कालिदास के साथ दौड़ कर ली है और उसमे वे पराजित नही रहे हैं।

श्लाघ्य श्री चन्दन मुनि तेरापंथ के नवम आचार्य एवं अणुव्रत प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी के सहपाठी रहे है। उन्होने अपनी विद्वत्तापूर्ण रचनाओं से अपना सहपाठित्व चरितार्थ भी कर दिया है।

श्री चन्दनमुनि ने सस्कृत-प्राकृत-आदि भाषाओ मे अपनी अनेक रचनाएं प्रस्तुत की है। सभी रचनाओ का लक्ष्य व्यक्ति को आत्माभिमुख बनाने व सत्यं शिवं की ओर अग्रसर करने का है। इस अर्थ मे सचमुच ही श्री चन्दन मुनि ऐसे विरल कविओ की गणना मे आ जाते हैं, जिनकी गरिमा मे स्वनाम-विश्रुत पं० जगन्नाथ ने कहा था—

श्रृंगारादि समुज्ज्वलरचनापटवः क्षितौ न के कवय:?
ते तु नितान्तं विरला आत्म-ज्ञानाय वाग् येषाम् ॥

२७-१२-६९

अणुव्रत सभागार
बम्बई-२

मुनि नगराज

स्वतः

सन्त्यनेका यद्यप्यवितथाः स्व-भावाविर्भावनेनाश्लथाः कथन-
थारूढा ऐतिहासिककथा जगति चारुतया चाचल्यमानाः। अप्रख्या
न्तु जम्बूस्वामिनां आख्यायिका व्याख्यां नीयमाना आराधयति
ामप्यलौकिकी माधुरीं धीधराणां श्रवेषु । ऐदंयुगीना नेदं
ीकर्तुमपि क्षमरेन् यत् संभवेत् कोऽपीदृशो वीरप्रवरो देहभृन्नरो
ा नक्तं अनासक्तं परिणीय अष्टाष्टौ प्रमदा अहर्मुखेऽर्हतितमा-
र्हती दीक्षाम् ।

वधूपक्षीयैर्देदीयमान पुरुहं दान मुषितुकामा उद्दामा प्रभवानु-
ामिनी तस्करपञ्चशती निरंकुशमाजगामाऽत्र। आरब्धे स्तब्धतां
ब्धेषु तस्करेषु तद्विमोचनोपायमन्वेषयन् कृतजवः प्रभवः
ाक्षाच्चकार जम्बूकुमारमुपरितनभूमौ। तत्र यत् किमपि निशमितं,
ङ्कितं, उट्टङ्कितं, श्रुतं, विभावितं, भावितं च तत्रेयं रचना
ानिर्वचनीयवचनावलिमारचयन्ती प्रादुष्कृतिमागता। एनां अधीयाना-
छात्रा न केवलां भव्यकाव्यभावमङ्गीमनुबोभविष्यन्ति किन्तु सुमधुरं
ानामृतं पेपीयमानाः सहजबोधेनात्मनि पेप्रीयमाणा वैरङ्गिकी दशां
तिपत्स्यन्तेतमामिति निश्चप्रचम् ।

नूनमन्यान्यप्रसङ्गेषु स्वस्थं चरित्रनायकस्य समस्तमपि जीवन-
ांशतः प्रतिबिम्बितमिवाभाति तथापि प्रभवस्यैव प्रबोधदानदक्षतां
क्षीकुर्वाणेन मया जम्बूकुमारस्य ललनाभिः सह प्रश्नोत्तरेषु
वपक्षस्थापनपरपक्षतिरस्कारभावनया व्याकृता भूरिशः कथा गुणी-
ावमापिता नह्यत्र प्रपञ्चमञ्चिताः। ततः खण्डशः छेकशैल्या
यावर्णितमिदं खण्डकाव्यं मनीषिणां पुरस्तादुपढौकितं सत् तेषां
ीक्षाकषपट्टके कीदृग् याथार्थ्यमर्हतीति प्रतीक्षमाण उत्तिष्ठति
न्दन मुनिः ।

दाक्षिणात्ये बेलूरनगरे
वि० सं० २०२६,
आषाढ़ (प्रथम) द्वितीया

पूज्य मातु श्री गुलाब बहन की जीवन झांकी :

श्री गुलाव वहन का शुभ जन्म ३ नवम्वर १८९७ ई० मे पोरवन्दर (सौराष्ट्र) स्थित एक संस्कारी जैन परिवार मे हुआ था। वहुत ही छोटी अवस्था में दादी जी के सहवास से आपके विशुद्ध हृदय क्षेत्र मे धार्मिकता एवं व्यवहारिकता के वीज पड़ चुके थे। आपका पाणिग्रहण-संस्कार भी छोटी उम्र मे ही समृद्ध एवं साधन-सम्पन्न परिवार मे श्रीमान शाह छोटालाल जी के साथ हो गया था। प्रेम, दक्षता एवं सहिष्णुता के द्वारा समूचे परिवार पर आपकी गहरी छाप पड़ी। सत्संगति, सामायिक-प्रतिक्रमण आदि नित्यकर्म आपके वाल्यकाल से ही चालू थे। वाद मे वे और ही विशिष्टता पकड़ते गए। घर के नन्हे-नन्हे वच्चों को एकत्रित कर बड़े आकर्षक ढंग से धार्मिक वार्ताएं व कहानिया आप सुनाया करती थीं। जिसके कारण समूचे परिवार मे धार्मिक संस्कार पनपते गए। कही भी उत्तम तत्व व धर्मोपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होता तो मातुश्री अविलम्व वहाँ पहुंच जाती थी। परिवार की वहनो को भी समय-समय पर धार्मिक शिक्षाएं देती और स्वयं पुस्तको का वाचन करते हुए उसका महत्त्व औरो को भी समझाती। पाक्षिक, साम्वत्-सरिक आदि पर्वोत्सवों पर समूचे परिवार को प्रतिक्रमण आदि करवाती। वैसे ही सुसंस्कारी गृहस्थो तथा संत महात्माओ के पास तात्त्विक-गोष्ठियां भी करती। ऐसी उनकी ज्ञानार्जन करने की तीव्र अभिलाषा जीवन के अन्तिम क्षणों तक अक्षुण्ण रही।

धार्मिक कार्यों के अलावा सामाजिक क्षेत्र मे भी आपने वहुत कार्य किया। खास तौर से मध्यम वर्ग की वहनो की सहायता करने मे खूव रस लेती थी। दयालु तो आप इतनी थी कि जिन गरीव परिवारो के पास किसी प्रकार का अभाव देखती, तत्क्षण उसे गुप्त रूप से अर्थ, वस्त्र भोजन आदि की पूर्ति करती और दुखी वहनो को आश्वासन देती, उन्हे निर्वाह योग्य कार्य प्राप्त हो ऐसा प्रयत्न भी करती थी। वम्वई मे भी आपने एक छोटा-सा गृह उद्योग

प्रारम्भ किया था और प्रत्येक घरों मे जा-जाकर बहनो को काम करने की निःसंकोच प्रेरणा देती तथा गृह-उद्योगों मे कार्य-रत बहनों द्वारा निर्मित वस्तुएं, सिले हुए वस्त्र आदि आप स्वयं अन्य घरो मे जाकर विक्रय कर आती थी।

पोरबन्दर में भी आपने एक 'महिला-मण्डल' की स्थापना की थी। जिसके माध्यम से बहनों के उत्कर्ष के निमित्त आप अन्त तक कार्यरत रही। अन्तिम अवस्था मे श्रीमद्‌राजचन्द्र के ग्रन्थों द्वारा आप मे बहुत बड़ी जागृति आ चुकी थी। आज हम लोगो मे जो भी कुछ धार्मिक प्रवृत्ति, साधु संतो के प्रति श्रद्धा और प्रेम का विकास हुआ है वह मातु श्री की प्रबल प्रेरणा का ही सुपरिणाम है।

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति मातु श्री की पुण्य-स्मृति में यह संत-कृति 'प्रभव प्रबोध काव्यम्' उन्हीं को सादर-समर्पित !!

'स्मित-किरण'
३७७, स्वामी विवेकानन्द मार्ग
विलेपारला, वम्बई ५६

विनयावनत

नगीन भाई शाह,
सुशीला बहन शाह

PROLOGUE

In the city of Rajagriha, capital of Magadha ruled by King Shrenika (Bimbisara), there lived a rich merchant named Risabhadatta with his wife Dharini. As they had no child, Dharini felt extremely dejected. To cheer her up, Rsabhadtta once took her to the groves of Vaidhara hill for a picnic. There they met Yashomitra, the son of a Siddha, and they all went to hear the sermons of Sudharmaswami. Lord Mahavira's Ganadhara. After the discourse, Yashomitra requested Sudharmaswami to describe the Jambu tree wich had lent its name to Jambudvipa. Dharini, on her part, asked the sage whether she would ever become a mother. Thereupon Yashomitra while rebuking her for putting such a ridiculous query to the saint, made a prophecy that she would conceive after seeing a lion in a dream. He also foretold that the child would be a son and he should be named Jambukumara.

A similar prophecy was made by Lord Mahavira himself. Once king Shrenika asked Lord Mahavira as to who would be the last omniscient (Kevalin) of the era. Lord Mahavira said that on the seventh day a god- being named Vidyunmali would complete his godly life and would be conceived in the womb of Dharini, the wife of Risabhadatta. He would be named "Jambukumara" and would be the last omniscient of the present era. Everything happened as foretold. A most handsome son was born to Dharini. and was named Jambukumara. When he grew up and reached the marriageable age, he was betrothed to eight beautiful daughters of eight eminent merchants of the city.

At that time. Sudharmaswami the successor to Lord Mahavira arrived at Rajagriha. Jambukumara went to hear his discourse and impressed by the sermon, desired to join the monastic order. When he was returning home to seek his parents' consent, accidentally a big stone from the main gate of the city fell just near his chariot. Jambukumara, however, escaped unhurt. But he realised that death was an uncertain event which might occur at any time. He at once returned to the Teacher and took a vow to observe perfect celebacy for the whole life.

Returning home, he informed his parents about his resolution and asked their permission to renounce the world. In vain, they tried all means to dissuade him from his resolve. At last they made him agree to postpone it till after the wedding. They believed that after his marrige, seeing his beautiful brides, Jamukumara himself would give up his idea of becoming a monk. Jambukumara insisted that his fiancees must be informed about his vow of celebacy. Then they all met together to chalk out a plan of campaign, and decided to make every effort for persuading him not to renounce the world after marriage. They also agreed that in case they failed, they would follow their husband in the path of renunciation.

When the news was communicated to the fathers-in-law, by Rsabhadatta, they became very uneasy ; but their duaghters asked them not to worry and assured that they were determined to follow their husband in all circumstances.

The day for the wedding was then fixed; and it was celebrated with much pomp. With a huge dowry of ninty-nine crores golden coins and a large variety of precious ornaments, the eight brides of Jambukumara came to his house. On the very first night after the marriage, there was a long discussion between Jambukumara on one side and his brides on the other. Each lady told Jambukumara a story to dissuade him from his resolve. To each of them Jambukumara also related an answering story to substantiate his stand. In the

end Jambukumara triumphed over his wives and all of them decided to renounce the world.

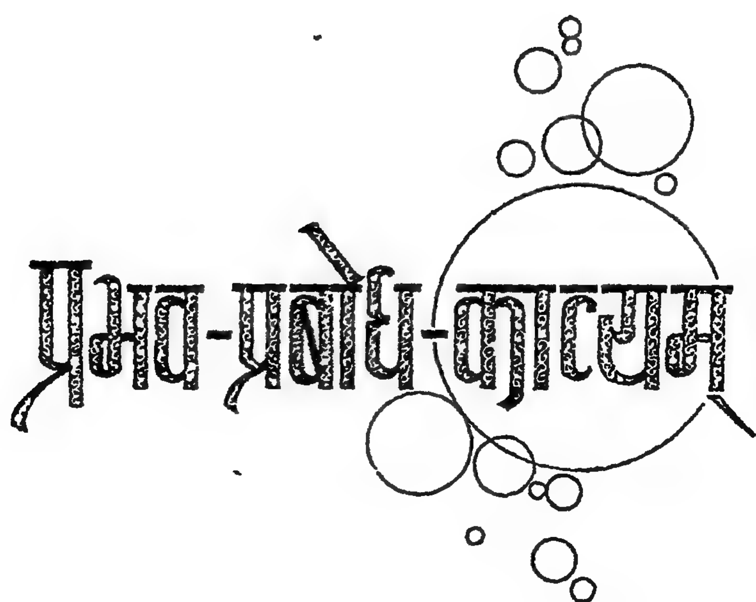
Contemporarily, in the city of Jayapura near mountain Vindhyachala, there ruled a king named Vindhya. He had two sons—Prabhava and Prabu. In his youth Prabhava fell a prey to the habit of stealing and became much defamed for his bad habits. The king was much enraged by the depraved acts of his elder son, and finally banished him from the country. The younger prince Prabhu was nominated as the successor to king Vindhya. Prabhava went to the hills and joined a gang of robbers. On account of his skill, bravery and administrative ability, he soon became the chief of the gang of five hundred robbers. By his polite behaviour, he also won the hearts of his accomplices. He possessed two spells, one for opening doors, and the other for casting all asleep. With the help of these two spells, he always succeeded in carrying away the booty.

Now when the marriage of Jambukumara was announced, Prabhava's spies informed him of the huge dowry to be given away to the eight brides. He at once decided to break into the house of Jambukumara on the night of his wedding to gain the rich booty. From here starts the present story of *Prabhava Prabhodha*.

28tn December 1969
Bombay.

Muni Mahendrakumara
"Dviteeya"

अनुक्रमः


प्रभव-प्रबोध-काव्यम्

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

★ | प्रथमः प्रकाशः

मङ्गलाचरणम्

श्रीवर्धमान प्रणिपत्य[1] भक्त्या, स्मृतिं च नीत्वा तुलसी गणेन्द्रम् ।
बालैः सुपाठ्यं सरस सुबोधं, [2]विनिर्मिमेऽहं[3] प्रभवप्रबोधम् ॥

● कथारम्भः

"अलं भो अलमितरविचारविनिमयैः" प्रोक्तं खलु पाटच्चराणां[4] परिवृढेन[5] प्रभवेण ।

निशम्येद—"किं-कि, कुतः-कुतः, कथ-कथमिति ससम्भ्रमं[6] सर्वैरप्यनुवर्तिभिः स्तेनै[7]र्जिज्ञासितम् ।

"अश्रावि मयाऽद्यैव यद् राजगृहवास्तव्येन महेभ्यऋषभदत्तस्य[8] सत्पुत्रेण [9]प्रोल्लसल्लावण्याभिर्मारवधूमेदुराभि[10]रष्टाभिर्ललनाभिस्सह युगपदुद्वाहविधिं विधायाऽनर्घ्यवस्त्राभरणरजतहाटकमाणिक्यादीनामेकशतद्वानवतिवचनानां[12] यौतुकमवापि । अतोऽस्यां शर्वर्यां[13] तत्रैव गन्तव्यं, स्तैन्यमपि[14] च तत्रैव कर्तव्यमिति मया सम्यङ् निरणायि," प्रत्यवाचि[15] प्रभवेण ।

अथ तत्रभवान् श्री चन्दनमुनिः "काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" इत्यालङ्कारिकाणां पुराणपरिपाटीमाटीकमानो लोकनिःश्रेयससाधनभूतां प्रभवाय श्रीजम्बूकुमारद्वारा समुपदिष्टामिष्टार्थमिष्टां कथामवितथां निबध्नन् भविकजनप्रबोधाय कान्तासम्मितां काव्यपदावलिं प्रयुञ्जानः प्रथमं शिष्टाचारानुमतं सन्मांगल्यविततशिष्यशिक्षान्वितं उपजातिवृत्तमयं पद्यं पठन्नाह । श्रीवर्धमानमित्यादि" '

१. नमस्कृत्य २. रचयामि ३. चन्दनमुनिः ४. तस्कराणाम्- (दस्युः

★ पहला प्रकाश

मङ्गलाचरण

मैं सर्व प्रथम तीर्थङ्कर श्री वर्धमान को भक्ति से प्रणाम करता हूं और आचार्य श्री तुलसी का स्मरण कर, बालकों के लिए सुपाठ्य, सरस और सहज ही समझ मे आने योग्य "**प्रभव प्रबोध**" काव्य की रचना करता हूँ।

● कथारम्भ

"बस, बस दूसरे विचारो को बन्द करो"—चोरो के स्वामी प्रभव ने अपने अनुयायी चोरों से कहा।

ऐसा सुनकर "क्या—क्या, कहां-कहा, कैसे-कैसे" सभी अनुयायी चोरो ने ससभ्रम जिज्ञासा की।

प्रभव ने उत्तर देते हुए कहा—"मैंने आज ही सुना है कि राजगृह निवासी श्री ऋषभदत्त श्रेष्ठी के सुपुत्र ने उल्लसित लावण्यवाली तथा कामदेव की पत्नी 'रति' की तरह कोमल आठ ललनाओ के साथ विवाह कर बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, सोना, चादी, माणिक्य आदि १९२ चीजो का दहेज पाया है। इसलिए इस रात्रि में हमें वही जाना चाहिए और चोरी भी वही करनी चाहिये—ऐसा मैंने सम्यग् निर्णय किया है।"

पाटच्चरः स्तेनः, इति हेमचन्द्र :) ५. स्वामिना ६. सत्वरम् (संवेगः सम्भ्रम-स्त्वरा, इति हेमचन्द्रः) ७. चौरैः ८. महाधनिऋषभदत्तनाम्नः, समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः यथा-सप्तऋषीणाम् ९. प्रोल्लसत् लावण्यं यासा ताभिः १०. रतिवत् स्निग्धाभिः ११. सुवर्णम् १२. "१९२ वस्तुओं का दहेज" इतिभाषायाम् १३. रात्रौ (निशा निशीथिनी रात्रिः शर्वरी क्षणदा क्षपाः, इति हेमचन्द्रः) १४. चोरिका (स्तैन्यं तु चोरिकास्तेयं, इति हेमचन्द्र :) १५. उत्तरमदोयि (उत्तरं तु प्रतिवचः, इति हेमचन्द्र.)

"केन पथा यातव्यं, कुत्राऽपरिमितो वसुराशिश्च[१] वरीवर्ति इत्यपि समन्ततो निरचायि[२] किमुत प्रभुणा" ? अप्रच्छि तदन्यतमेन तस्करेण ।

आमामह[३] चारपुरुषेण[४] प्राप्तसमाचारोऽस्मि, यत्तस्य गेहे क्वचिद्रत्नानां प्रकरः[५], कुत्रचिन्नवनवतिपरिमिता दीनाराणां कोटयः[६], कुहचिद् रूप्यकाणां सन्दोहः, अपरत्र कौशेयवाससां[७] विसरः, इतरत्र रत्नावल्यादिहारार्धहारादीनां समुदयः, परत्र च सौवर्णरौप्यभाजनानां व्रजः[८] । किं बहु व्याकुर्वे, तस्याऽतीव विशालमपि प्राङ्गणं संकीर्णतामङ्गीकुरुते । '[९]गर्भगृहस्थितायसपेटिकादिषु सुस्थापयितुं तानि-तानि वस्तूनि कः प्रभुः[१०] कश्च लब्धावसरः ? अद्य क्षपायां[११] विक्षेपरहितै[१२]रस्माभिस्तत्र गत्वा प्रभूतमियद् धनं कणेहत्य[१३] जीवनार्हमानेतव्यं[१४] यथा न कदाचिदपि तस्करपदवाच्यता स्वीकार्या स्यात् । एतादृशी दुर्लभा-वेला नावहेलनीया भोः", आज्ञापितं तस्करपतिना पुनरपि ।

सर्वेपि 'प्रभवःप्रमाणमिति"[१५] व्याकुर्वाणाः[१६] स्वीचक्रुः ।

उदयस्यानुगामिन्यस्तङ्गतिरितीव प्रकटयितुं मरीचिमाली [१७]अस्तं जगाम । सशोकेषु कोकयुगलेषु[१८] चकोर[१९]-काकारि-चौरादीनां हर्षातिरेकः समजनि । शूचिभेद्येन[२०] सतमसेन व्यानशेऽखिलमपि[२१] भूवलयम् । लघवोऽपि स्नेहप्रिया[२२] उन्नतास्पदमुररीकुर्वाणाः[२३] प्रतिसद्म विरेजिरे । [२४]अपिहितहट्टकपाटास्तालके तालिकां परावृत्य सम्यक् परीक्ष्य च स्व स्वमालयमध्यूषु[२५]र्व्यापारिवर्गाः । सुविहितशृङ्गाराः सज्जितशयनागारा अजनिषत[२६] लज्जाभरमन्थरा नवोढाः । स्वापयाञ्चक्रुः कामप्यद्भुतामाख्यायिकां श्रावयन्त्यः स्वानि-स्वानि चापत्यानि वृद्धमातरः ।

---

१. धनराशिः २. निश्चयोऽकारि ३ अङ्गीकारे, (स्यादो आ परमं मते, इति हेमचन्द्रः) ४. गुप्तचरेण ५ समूहः ६. "९९ करोड सौनय्ये" इति भाषायाम् ७ कृमिकोशनिष्पन्नवस्त्राणां समूहः, "रेशमीवस्त्र, इति भाषायाम् ८, समूहः ९. "भूंवारे मे रखी हुई लोहे की सन्दूको मे" इति भाषायाम् १०. समर्थः ११. रात्रौ १२. विलम्बरहितैः १३. मनोहत्य, "कणे मनसी तृप्तौ" इति समासः । १४. आजीवनोचितम् १५. स्वामिन प्रमाणम्

उनमें से किसी एक चोर ने पूछा—"क्या आपने यह भी पूर्ण रूप से निश्चय किया है कि हमे कौन से मार्ग से जाना है और वह अपरिमित धन राशि कहां है।"

"हाँ,-हाँ, मैंने गुप्तचर से सारी बाते जानली है—कि उसके घर मे कही रत्नो के ढेर हैं, कही निनानवे करोड दीनार पडे है, कही रुपयों का ढेर है, कही रेशमी वस्त्रो का समूह है, कही रत्नावली हार, अर्द्धहार आदि पडे है, कही सोने चादी के वर्तनो की राशि है, विशेष क्या कहूँ उससे घर का विशाल प्रागण भी आज संकीर्ण हो रहा है। इन सारी चीजो को भोयरो में पडी हुई लोह मञ्जूषाओ मे रखने मे कौन समर्थ है? और ऐसा करने के लिए समय ही किसे है? आज रात को हमे वहाँ अविलम्ब ही जाकर इतना प्रचुर धन जी-भर के ले आना चाहिये कि वह जीवन पर्यन्त पर्याप्त हो और हमे हमारे जीवन निर्वाह के लिए कभी भी चोरी न करनी पडे। ऐसे दुर्लभ अवसर की अवहेलना नही करनी चाहिए"—चोरों के स्वामी प्रभव ने पुन. कहा।

सभी चोरो ने 'आप ही प्रमाण है',—ऐसा कह सारी बाते स्वीकार कर ली।

उदय के वाद होने वाली अस्तगति को मानो प्रगट करता हुआ सूर्य अस्त हो गया। सूर्य के अस्त होने पर चक्रवाक शोकातुर हो उठे और चकोर, काक, उल्लू तथा चोरों को परम हर्ष हुआ। भूमडल मे चारो ओर अन्धकार छा गया। प्रत्येक घर मे छोटे छोटे स्नेहप्रिय दीपक भी ऊँची स्थिति को पा शोभित होने लगे। व्यापारी लोग अपनी अपनी दूकानो के ताला लगाकर दुवारा देखकर अपने अपने घर आ गए। नई वधुएं शृङ्गार कर अपने शयन-कक्ष को सज्जितकर, लज्जा के भार से मन्थरगति वाली हो गईं। वृद्ध माताएं अपनी अपनी संतान को विचित्र कथाएं सुनाती हुई सुला रही थी। चौराहो

---

१६. प्रकटयन्तः १७. सूर्यः १८. चक्रवाकमिथुनेषु, (चक्रवाको रथाङ्गाह्वः, कोको द्वन्द्वचरोऽपि च इति हेमचन्द्रः) १९ चकोरः-ज्योत्स्नाप्रियः, काकारिः-घूकः, चौर.-प्रसिद्ध. इत्यादीनाम् २०. अत्यन्तगाढाऽन्धकारेण २१. व्याप्तवान्, "अशु" व्याप्तौ, णवादौ-व्यानशे २२. दीपा. २३. स्वीकुर्वाणाः २४. स्थगिताऽऽपणकपाटाः २५. अधिवसन्ति स्म २६. अभवन्।

भ्रमितु लग्नास्त्रिकचच्चरादिषु दुःसञ्चरासु[1] चौरवीथीष्वपि[2] "समवदधतां[3]-समवदधतां भो" इत्याम्रेडयन्तः[4] प्रहरणपाणयः[5] प्राहरिकाः।

"अस्ति सुसज्जा पारिपन्थिकानां[6] पञ्चशती[7]'? उट्टङ्कितं मलिम्लुचमुकुटेनार्धरात्रे[8]।

"वाढम्-वाढम्, सर्वेऽपि प्रतीक्षन्ते श्रीमन्तम्" निवेदितमेकेन।

अलं विलम्वेन तर्हि, तत्कालमेव चलत चलतेति कृत्वा निर्भयं प्रभु-प्रभवान्वक्षं[9] सर्वेऽपि प्रचेलुः।

इदमेव हर्म्यं ऋषभदत्तमहेभ्यस्य यत्र काचमञ्जुषास्थापिता विद्योतन्तेऽनेके प्रदीपाः। स्थगितमुख्यद्वारस्याग्रतः कतिपये यामिका अटाट्यन्ते[10]। अस्मारि तदानीमेव स्तेनेनेनावस्वापनी[11] विद्या। तया झगित्येव परिमितभूभागे यथावस्थितं प्रमीलापरवन्तो[12] जज्ञिरे समेऽपि जनाः। अशनिपातेऽपि न निद्राविघातः स्यादीदृशीं गाढां सुषुप्तिमालिलिङ्गुस्तत्रस्था। अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः। अनिरुद्धप्रचारास्ते प्रतीहारसनीडमागत्य[13] उद्‌घाटन्या विद्यया निपातितद्वारयन्त्रा निःशङ्कं कपाटयमलमुद्‌घाट्य मध्येगृहमाययुः[14]।

अहह! किमिदं कुबेरस्य भाण्डागारम्। उत[15], स्वर्गिणां[16] स्वापतेयम्[17]? अनेकेषां सम्राजां मन्दिरे नेदृग् वैभवं व्यलोकि। पद्मे! किमेकस्मिन्नेव सद्मनि पूर्णतयाऽवतीर्णा? [18]युक्तरूपमिदमथवाऽऽचीर्णं भवत्या, कथमन्यथाऽस्मादृशामेकत्रैव तृष्णालहरी शान्ता स्यात्?

---

१. दुर्गमासु २. "नन्ही नन्ही गलियो मे" इति भाषायाम् ३. 'सावधान" इति भाषायाम् ४ द्विस्त्रिरुच्चरन्तः, (आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तम् इति हेमचन्द्र :) ५ प्रहरणानि-शस्त्राणि-पाणिषु-हस्तेषु येषा ते ६. तस्कराणाम्, (तस्करः पारिपन्थिकः, इति हेमचन्द्रः) ७. पञ्चाना शताना समाहारः पञ्चशती "द्विगोःसमाहारात्" इतीप् ८. चौराऽधिपतिना ९. स्वाम्यनुपदम् १०. परिभ्रमन्ति ११. स्तेनाना-चौराणा, इनः—स्वामी तेन। "इनः स्वामि-

में तथा दुःसंचर चोर-मार्गो मे 'सावधान-सावधान' की वार वार आवाज करते हुए सशस्त्र चोकीदारघूमने लगे ।

अर्ध रात्रि वीत जाने पर चोरो के सरदार ने पूछा—'क्या पाँचसो चोर सुसज्जित है ?'

'हा, हा पूर्णरूप से सुसज्जित है, सभी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं"—एक ने कहा ।

तो विलम्ब नही करना चाहिये 'चलो चलो,—कहते हुए सभी प्रभव के पीछे चल पड़े ।

यह ऋपभदत्त सेठ का घर है, जहाँ काच-मञ्जुपाओ मे स्थापित अनेक प्रदीप जगमगा रहे हैं । घर का मुख्य द्वार वद था । कई चोकीदार इधर उधर घूम रहे थे । उसी समय प्रभव चोर ने 'अवस्वापनी' विद्या का स्मरण किया । तत्काल ही उस परिमित भूभाग के सभी लोग जैसे थे वैसे ही निद्रा के वश मे हो गए । वज्रपात से भी निद्रा का विघात न हो—ऐसी गाढ़ सुपुप्ति मे वहा के सभी लोग लीन हो गए । सत्य है—मणि, मंत्र और औप-धियो का प्रभाव अचिन्त्य होता है । विना रोक-टोक के वे सभी चोर द्वार के पास आये और उद्घाटनी विद्या से तालो को तोड कर निःसंकोच दोनो कपाटो को खोल कर घर के मध्य में जा पहुँचे ।

"ओह ! क्या यह कुवेर का भंडार है, अथवा देवताओ का धन एकत्रित हुआ है ? अनेक सम्राटो के महलो मे भी मैंने ऐसा वैभव नही देखा । हे लक्ष्मी ! क्या तू एक ही घर मे सम्पूर्णतया अवतीर्ण हो गई ? यह तूने ठीक ही किया, अन्यथा हम जैसे व्यक्तियो की तृष्णा एक स्थान पर ही कैसे शात होती ?"

सूर्ययो." इति वचनात् । १२. निद्रापरवशा. १३. प्रतीहारस्य-द्वारस्य सनीडम्-समीपमिति, (स्त्रीद्वार्द्वारं प्रतीहारः. इत्यमरः) १४. गृहमध्ये, ("पारेमध्येग्रेन्त. पष्ठ्या वा" इति समासः) १५. वितर्के, (वितर्के किं किमुत च, इति हेमचन्द्र.) १६. देवानाम् १७. वित्तम्, (वित्त रिक्थं स्वापतेयम्, इति हेमचन्द्रः) १८. वहूचितम्, प्रशंसाया रूपप्रत्ययः ।

अहो ! अस्मिन् सदने संवेशसाम्राज्येन[१] वातावरणमतीव शून्यता-माविर्भर्ति। एकतः कर्मकराः कार्यसंलग्नकरा[२] एव पतिता दृश्यन्ते। अन्यतो वृद्धकाया वर्षीयांसो[३] घुरघुरायितघोणाः[४] संविशन्ति[५]। इतः सालङ्कारा मृगाक्ष्यो मङ्गलगीतानि गातुं संभूता अप्यनास्तीर्णे[६] भूभागे निर्ह्रीकं[७] निद्रान्ति। हन्त[८] ! हन्त !! जागर्ति खल्वेकं तस्क-राणामेव भागधेय साम्प्रतम्।

ननु किं हेयं, किं च नेयमिति प्रेङ्खोलितं[९] भवति लुब्धमन्तःकर-णम्। नव्यं-नव्य वस्तु निर्वर्णयत्[१०] पूर्वजिघृक्षितं[११] न जिघृक्षति चपलं चेत.।

"किं कृतमधुनावधि युष्माभिर्नहि साधितं करायत्तं कार्यम्? स्तैन्यं नहि शीतकतां[१२] सासहृयते, मुधा कियान् कालोऽतिवाहितः" ? प्रेरितं किञ्चिदरुणीभूय प्रभवेण।

"समीचीनमुदीरित भवद्भिः, किन्तु....."सर्वैरपि वक्तुमन्तराल अेव विश्रान्तम्।

"किन्तुना किं प्रयोजन नावसितं[१३] मया ? किं साम्प्रतमपि कार्य-मवशिष्टं यौष्माकीणम् ? नहि निनीषितवस्तुपोट्टलिका[१४] निगडिताऽधुनापि[१५] ? कीदृक्षा वैधेया[१६]स्तत्रस्था अेव प्रतिवदन्ति, नहि सदेश-मागच्छन्ति[१७], किं पादैः स्तब्धम्" ? पृष्टं सामर्षं[१८] स्वामिना।

"सत्यमुक्तं प्रभुणा, यदस्माभिर्भ्रामं-भ्रामं यदृच्छया स्वर्ण-रत्नादीनां ग्रन्थय. सज्जीकृताः सन्ति, परन्तु सर्वेषामङ्घ्रयः[१९] स्तब्धा इव, कीलिता इव, भूमिसंश्लष्टा इव च संजाताः। भृशं प्रयतामहे प्रस्थातु किन्तु [२०]शुम्वमात्रमपीतस्ततो भवितुं न शक्यामहे, न जानीमहे का विचित्रा घटना घटिता" ? विज्ञप्तं सखेदं समस्तैः।

---

१. निद्राऽऽधिपत्येन. (संवेशस्वापसंलयाः, इति हेमचन्द्रः) २. कार्यसंलग्नौ करौ येपा ते ३ वृद्धा ४. घुरघुरायिता घोणा-नासिका येषां ते ५. निद्रान्ति ६. शय्यारहिते ७. निर्लज्जम्, क्रियाविशेषणम् ८. हन्त, हर्षेऽनु-कम्पाया, वाक्यारम्भविषादयोरित्यमरः। ९ दोलायितम् १०. पश्यत्

अहो ! इस सदन मे गाढ-निद्रा के कारण सारा वातावरण अत्यन्त शून्य हो रहा है। एक ओर कार्य में रत नौकर चाकर भी (जो जिस अवस्था मे था 'वह उसी अवस्था मे) नीचे पड़े हुए है, दूसरी ओर स्थूलकाय वाले वृद्ध मनुष्य खुर्राटे मार रहे है। एक ओर मंगल गीत गाने के लिए एकत्रित सुसज्जित ललनाये विना विछौने ही भूमि पर लज्जा-रहित होकर सो रही हैं। यहां वर्तमान मे केवल चोरो का भाग्य ही जाग रहा है।

इस अपार धन-राशि मे लुब्ध हमारा अन्त.करण निश्चय ही चपल हो रहा है और हम यह निश्चय नही कर पा रहे है कि हमे क्या छोडना है और क्या लेना है ? नये नये पदार्थो को देखता हुआ हमारा यह चपल मन पहले चाही हुई वस्तु को पुन. ग्रहण करना नही चाहता।

"तुमने अभी तक क्या किया ? हाथ मे लिया हुआ कार्य भी पूरा नही किया ? चोरी मे शिथिलता सहन नही होती। तुमने व्यर्थ ही कितना समय व्यतीत किया"—प्रभव ने कुछ क्रोधारुण होते हुए कहा।

"आपने ठीक कहा, किन्तु ... ..."यह कहते हुए सभी चोर बीच मे 'ही रुक गए।

"मैं नहीं जान पाया, 'किन्तु' से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? क्या अभी भी तुम्हारा कार्य अवशिष्ट है ? अभी तक तुमने ले जाने योग्य वस्तुओ की गाँठें नही बाँधी ? कैसे मूर्ख हो, वही से प्रत्युत्तर दे रहे हो, मेरे पास नही आ रहे हो। क्या पावो से स्तब्ध हो गए हो ?"—कुपित हो कर प्रभव ने पूछा।

सभी चोरो ने सखेद कहा—"हाँ, आपने ठीक कहा। हमने घूम-घूम कर यथेष्ट स्वर्ण, रत्न आदि वस्तुओ की गाँठें सज्जित की है। किन्तु हम सबके पाँव स्तब्ध, कीलित जैसे और भूमि से संश्लिष्ट जैसे हो रहे है। हम चलने की पूर्ण चेष्टा करते हैं, परन्तु एक सूतमात्र भी इधर उधर होने मे असमर्थ है। हम नही जानते यह क्या विचित्र घटना है ?"

११.पूर्वं ग्रहीतुमिष्टम् १२. आलस्यम्, (आलस्य : शीतकोऽलसः इति हेमचन्द्रः) १३. न ज्ञातम् १४ नेतुमिष्टवस्तुग्रन्थय १५. बद्धाः १६. मूर्खा· १७. समीपम् १८. सक्रोधम्, क्रिया विशेपणम् १९. अड्घ्रयः=पादाः २०. रज्जुमात्रम् (शुम्वं वटारको रज्जुः, इति हेमचन्द्रः)

वत[१]! वत? किं संवृत्तमिदम्? किमयमाकस्मिको रुग्णो वातो ववौ, यत् समेऽपि स्तब्धपदो बभूवुः? न हि संभावयामि खलु वाताभिघातमहम्, किन्तु मान्त्रिकोऽयं प्रयोग इत्यनुमिनोमि। अरे! कोऽयं नवीनो मायेन्द्रजालिक इहावतीर्णः? भवनस्थास्तु सर्वेऽपि सुखं निद्राणा दरीदृश्यन्ते। कुत्रायं मच्छिद्रनिरीक्षणपरो निद्रादरिद्रः स्थितोऽस्ति? इत्थमनल्पविकल्पैः सह स्वामी तेषां नेदिष्ठमागत्य[२] खेदविस्मयमिस्रं प्रोवाच–"किमु भवतां सर्वेषामपि चरणा विचरितुमप्रभूष्णवः[३]? नहि-नहि, यूयमदृष्टपूर्वमखर्व[४] वित्तव्रातं[५] विलोक्य हर्ष-विस्मेयातिरेकात् स्तब्ध-वपुषस्तु न संवृत्ताः[६]?

"नहि-नहि, देव! इदं त्वसंभाव्यं किमपि नूतनमरिष्टमाविर्भूतम्[७]" इत्यास्माकीनो निर्णयः", प्रत्युक्तं सर्वैः स्फुटवाग्भिः।

ओः[८]! कुत्रत्योऽयं संलापः शनैः-शनैः समीरणेन[९] समं मे श्रुतिपुटं कुटुम्बीकुरुते? चन्द्रशालायां[१०] किं किल प्रवक्ति कोऽपि जागरो नागरो[११] मधुरमधुरयाऽस्खलितवाग्धारया? नूनमनेनैव मान्त्रिकविद्याधुरन्धरेण स्तम्भन्या[१२] विद्यया स्तब्धा अस्मदीयाः सहचारिणः। तर्हि गच्छाम्यहमस्योपकण्ठं, स्यात् कश्चिदुपायः करायत्तः। इति निश्चित्य सहसैव सोपानमार्गेण प्रभाभिरुद्भासितं सप्तमभौममध्यासितमेतेन।

नक्तमपि[१३] दिवा चिकीर्षद्भिर्गृहमणिभि[१४]र्देदीप्यमाने, नानाविलाससामग्री-जातमनोहारिणि, गगनचुम्बिनि शिरोगृहे सुकोमलसुमशय्यामासीनमेकं पुरुषरत्नमद्राक्षीत्। अहो! अयमनिमिषकुमारः[१५] किमु मानुषीं तनुमाश्रितः? रूपेण किं स्वरूपमादायेहावतीर्णम्? लावण्येन किमत्रैवोल्वणता[१६] प्रदर्शिता? नरनिर्माणे विरञ्चिना[१७] किमुताऽत्रागत्यैव लेखनीभङ्गो व्यधायि? वर्णाकृत्यादिसुगुणैः किमस्मिन्नैवास्पद[१८]मलम्भि[१९]? अहह! विचित्रोऽयं पञ्चजनो[२०] दर्शनमा

---

१. वत=(खेदानुकम्पा-सन्तोषविस्मयामन्त्रणे वत, इत्यमरः। २. अति समीपम् ३. अप्रभूष्णवः=असमर्थाः ४. अखर्वम्=अतुच्छम् ५. धनराशिम् ६. जाताः ७. अरिष्टः=उपद्रव, (उपलिङ्गं, त्वरिष्टं स्यादुपसर्ग उपद्रव, इति हेमचन्द्र.) ८ आश्चर्ये ९. वातेन १०. शिरोगृहे ११. नगरे

"खेद ! खेद ! यह क्या हुआ ? क्या अकस्मात् कोई रुग्ण–वायु चली है। जिससे कि सभी स्तब्ध हो गए हैं ? मैं इसे वाताभिघात नही मानता । मेरा अनुमान है कि यह कोई मंत्र का प्रयोग है । अरे ! यह कौन नया इन्द्रजालिक यहां अवतरित हुआ है ? इस घर के सभी प्राणी सुख से नींद ले रहे है, इस बीच मेरे छिद्रों (दोषो) को देखने वाला यह कौन निद्रा-दरिद्र जाग रहा है ?" इस प्रकार अनेक संकल्प विकल्पो को संजोते हुए प्रभव ने उनके अत्यन्त समीप आकर खेद और आश्चर्य चकित होते हुए कहा—"क्या तुम्हारे सभी के पाँव चलने मे असमर्थ हैं ? नही, नही ! इस अदृष्टपूर्व अपूर्व धनराशि को देख कर हर्ष और विस्मय के अतिरेक से क्या तुम स्तब्ध नही हो गए ?"

सभी चोरों ने स्पष्टता से कहा—"नही-नही, देव ! यह असंभव है। कोई नवीन उपद्रव प्रकट हुआ है—ऐसा हमारा निर्णय है।"

"ओह ! यह संलाप जो पवन के साथ धीरे-धीरे मेरे कानो मे पड़ रहा है, कहाँ हो रहा है ? क्या ऊपर की मंजिल मे कोई जागता हुआ व्यक्ति मधु-सी मीठी वाणी में बोल रहा है ? निश्चय ही इसी मान्त्रिक विद्याधुरन्धर ने हमारे सहचारियो को स्तम्भनी विद्या से स्तब्ध किया है, तो मै उनके पास जाऊँ । संभव है, कोई उपाय निकल आये ।" यह निश्चय कर तत्काल ही वह सोपान मार्ग से रत्नों की प्रभाओ से आलोकित सातवीं मजिल पर जा पहुँचा ।

रात को भी दिन की तरह प्रकाशित करने वाले दीपको से देदीप्यमान, विविध विलास सामग्री से मनोहर, गगनचुम्बी मजिल मे, सुकोमल पुष्पशय्या पर बैठे हुए एक विशिष्ट पुरुष को उसने देखा।

'अहो ? क्या यह मनुष्य शरीर को धारण किये हुए देव कुमार है ? क्या रूप स्वयं अपने 'स्वरूप' को धारण कर यहाँ आया है ? क्या लावण्य यही प्रकट हुआ है ? क्या विधाता ने इस मनुष्य का निर्माण कर यही पर अपनी लेखनी को विराम दे दिया है ? क्या वर्ण आकृति आदि सुगुणों ने यही

भवो नागरः १२. स्तम्भनी, एषा मान्त्रिकी विद्या अनया परे स्तब्धा भवन्ति तया १३. इदं रात्रिवाचि अव्ययम् १४ दीपेन १५. देवकुमार: १६. उल्वणता=स्पष्टता १७. ब्रह्मणा १८. आस्पदम्=स्थानम् १९. अलम्भि=प्रापि २०. मर्त्यः, (मर्त्यः पञ्चजनो भूस्पृक्, इति हेमचन्द्रः) ।

त्रेणैव ममान्तःकरणमाकर्षति । नूनमनेनैव महापुरुषेण मामकीनाः सर्वेऽप्यवरुद्धाः ।

हन्त ! अस्य सम्मुखीनासनासीना अष्टावप्सरस इव विराजमाना का इमाः ? स्वसौन्दर्येण [1]पौरन्दरमन्तःपुरमपि हसन्त्यो नृलोकगौरवमेधयमानाः[2] किमत्रागमन् ? हावभावविलासविभ्रमाः किमत्रैव मूर्त्ताः संवृत्ताः ? कदलीगर्भकोमलमप्यासां वपुर्मुनीश्वराणामपि मानसदुर्गभिदायै वलीयः नूनमयशालिन्य[3] इमा यदनन्योपमेयमीदृशं वरयितारं[4] परिवेष्टय संस्थिताः सन्ति । दैव ! घुणाक्षरन्यायेन क्वचित्त्वमपि यथास्थानयोजनकौशले वैचित्रीमुत्पादयसि । आकर्णयामि खल्वमीषां प्रेमपटिष्ठान् प्राथमिकान् परस्परालापान् । इति विचार्य एकतश्च स्थित्वा श्रोतुवमधत्ते ।

"प्रियाः ! जातुचिद् विभावितं भवतीभिः सांसारिकं स्वरूपम् ? अनुभूयमानं सुखं किमु नापातरमणीयम्[5] ? विद्युल्लोले जीवनलवे कथमियान् विश्वासः ? हास्येऽपि रुदितलास्यं[6] नावलोक्यते किमु ? प्रसादेऽपि विषादभङ्गी नानुषङ्गिनी किमुत ? प्रातःकृतसौहार्दो नार्दयति[7] किमु सायम् ? विभाते विभा-विभासुरो नहि म्लायति सन्ध्यायाम् ? कान्ताः ! आन्तरदृशा निर्वर्ण्यमानेनाऽवर्णनीयस्वरूपमिदमाभाति जगत् । परिजनानां सङ्गमो नक्तमेकत्र मिलितानां वयसां[8] न सारूप्य निरूपयति ? हन्त ! हन्त ! कीदृग् व्यामोहः ! ममेति शब्दवाच्याः कुत आगताः, कथमागताः, कियत्कालं स्थातारः, क्वाग्रे च गन्तार इति निर्णीत कैरपि विपश्चिदपश्चिमैः ?[9] अलमथवा परेषा चर्चया स्वविषयेऽपि नावगच्छामो[10] वय व्यामूढधियः । जाता, यौवनोन्मत्ता, वार्धकमाप्ता[11]

---

१. पुरन्दरस्य, इन्द्रस्य इदं पौरन्दरम् २. वृद्धिं कुर्वत्यः ३. सौभाग्यशालिन्यः, (दैवं भाग्य भागधेयं दिष्ट चायस्तु तच्छुभम्, इति हेमचन्द्रः) ४. धवम्, (रुच्यो वरयिता धवः, इति हेमचन्द्रः) ५ आरम्भसुन्दरम् ६. रोदन-

पर अपना स्थान पाया है ? अहा ! विचित्र है यह मनुष्य ! इसके दर्शन मात्र से मेरा अन्त.करण खिचा जा रहा है । निश्चय ही इसी महापुरुष ने मेरे व्यक्तियो को अवरुद्ध किया है ।

अरे ! इसके सामने बैठी हुई अप्सराओ की तरह ये आठ ललनायें कौन है ? क्या अपने सौन्दर्य से इन्द्र के अन्त पुर की भी हंसी करती हुई ये मनुष्य-लोक के गौरव को वृद्धिगत करने के लिए यहा आई है ? क्या इन्ही मे हाव-भाव-विलास-विभ्रम आदि मूर्त हुए है ? इनका कदलीगर्भ की तरह सुकोमल शरीर भी मुनियो के मानस दुर्ग को भेदने मे बलवान् है। शौभाग्य-शालिनी ये ललनाये ऐसे अनुपमेय पति को परिवेष्टित कर बैठी हुई है । हे विधे । कही-कही घुणाक्षरन्याय से तुम यथास्थान योजित करने के कौशल मे विचित्रता उत्पन्न कर देती हो । इनके पारस्परिक प्राथमिक तथा प्रेम-पटु आलापो को सुनू—यह सोचकर वह एक ओर बैठ गया और ध्यान से सुनने लगा । जम्बूकुमार कह रहा था—

'प्रियाओ ! क्या कभी तुमने सासारिक स्वरूप को जाना है ? क्या अनुभव मे आने वाला यह सुख आपात-रमणीय नही है ? विद्युल्लता की तरह चपल इस जीवन लव मे इतना विश्वास क्यो ? क्या हास्य मे रुदन नही देखा जाता ? क्या प्रसाद मे भी विषाद नही होता ? क्या प्रातः प्रेम करने वाला सायं वियोग से पीडित नही होता ? क्या प्रात काल मे देदीप्यमान सूर्य सन्ध्या काल में म्लान नही होता ? कान्ताओ ! यदि हम इस जगत् को आन्तरिक दृष्टि से देखें तो यह अवर्णनीय स्वरूपवाला प्रतीत होता है । कुटुम्बियों का सगम क्या रात मे एकत्रित हुए पक्षियो की तरह नही है ? खेद ! खेद ! कैसा व्यामोह ! "यह मेरे हैं"—ऐसा हम कहते है; किन्तु क्या विद्वानो ने यह कभी सोचा है कि—ये कहाँ से आए है ? क्यो आए है ? कितने काल तक रहेगे ? आगे कहाँ जाएगें आदि आदि । खैर, दूसरो की चर्चा से हमे क्या ? मूढ बुद्धि वाले हम अपने विषय मे भी कुछ नही जानते । जन्म लिया, यौवन मे उन्मत्त हुए, बूढे हुए और मृत्यु को प्राप्त हो गए—अरे !

नाट्यम् लास्यं नाट्यञ्च ताण्डवम्, इति हेमचन्द्र·) ७. न पीडयति ८. पक्षिणाम् ६ विद्वन्मुख्यैः १०. अवगच्छामः=जानीमः ११. वृद्धत्वम् ।

मृताश्च । अरे ! इयानेव सम्बन्धः ? इयति जीविते कियती कामना ? कीदृशी स्फारितमुखाऽऽशापिशाची ? अहर्निशं सकल्पः किं किं न विकल्पयति, दृश्यते क्वापि विश्रामः ? अस्ति कुत्रापि संतोषपोषः ? दाराः ! भवतीनां कारासु नाहं पिपतिषुः[1] स्वातन्त्र्यमिच्छुः । चेन्मया सह प्रेयसीनामलौकिकः प्रेमा[2] तर्हि लोकोत्तरे मामकीने कृत्ये साहाय्यमादधताम् । वैयक्तिकप्रीतित्यागेऽखिलजीवलोकेनाऽमाऽनन्ता प्रीतिः समुत्पाद्यते किमेतद् नार्योचितं कार्यम् ? अेकस्यैव कुटुम्बस्य त्यागे "वसुधैव कुटुम्बकम्" इत्येषा न किं विशालता ?"

अहो ! रतिसमयेऽप्यत्र विरतिवार्ता प्रवर्त्तते । भोगसमयेऽपि योगवृत्तिः समुज्जृम्भते । स्नेहावसरेऽपि विदेहकथा विस्तार्यते । प्रमदापरिवेष्टितोऽपि नहि चेष्टते च विषयेभ्यः । चित्रं-चित्रं! महच्चित्रम् !

हन्त ! प्रकृतिकुहनोऽयं[3] यौवनारम्भः, तत्रापि विभववैपुल्यम्, तत्रैव महर्षीणामपि मानसं तुदतीनां[4] तरुणीनां च सङ्गमः । आश्चर्यम् ! तत्रैव पाणिपीडनस्य प्रथमा निशीथिनी[5], निशीथस्य[6] समये कामुकीनां[7] कान्तानां मध्ये चैकाकिनो निवासः । इयदानुकूल्येऽपि मानसमस्य न कथं चापल्यमाकलयति[8] ? किमयोधनेन[9] वज्रसारेण वाऽस्यचेतो घटितं विधिना ? वैदेहः किमयमेव जनकः पुनर्धृततनुः ? भीष्ममपि हसति दाढ्र्यमस्योद्वाहिततया[10] । वत ! बत !! ब्रह्मचर्यस्य साक्षाद् दर्शनमयम् ! अहा ! अस्य वाचि कियदोजः समुल्लसतितराम् ! पुष्करावर्त्तमपि न्यक्कुरुतेऽस्य[11] वैराग्यमयी वाग्धोरणी । अथवा नेद चित्रणीयम्, सुजीर्णस्य भोजनस्योद्गारा अप्यन्यादृशा अेव भवन्ति । योगत्रिकं यत्रैक्यमावहति स न कथमनुलङ्घ्यवाक्प्रभावः प्रवाग्[12] भवेत् ? अस्तु "बहुरत्ना वसुन्धरेति" सूक्तिर्याथातथ्यमाविष्कुरुते । साम्प्रतमहं तु स्वकार्यमाराधयामि, यथा च मामकीना मुक्ता जायेरन् तन्मार्गं मृगयेय[13] । इदं तु सुनिश्चित वर्तते यन्मदीयाश्चौरा निरुद्ध-

---

१. पतितुमिच्छुः, "इवन्तर्धभ्रस्ज" इति वेट् पित्सति-पिपतिषति, इति रूपद्वयम् २. प्रियता, (प्रेमा ना प्रियता हार्द्दमित्यमरः) ३. प्रकृत्या ईर्ष्यालुः (इर्ष्यालु कुहनोऽक्षान्तिः इति हेमचन्द्रः) ४. व्यथयन्तीनाम् ५. रात्रिः (निशा निशीथिनी रात्रिः इति हेमचन्द्र.) ६. अर्धरात्रस्य ७. "कामुकी मैथुनेच्छायाम्"

क्या इतना ही सम्बन्ध है ? इतने अल्प-जीवन मे कितनी कामनाएं ? कैसी विशाल आशा पिशाची ? प्रतिदिन कितने संकल्प नही किये जाते ? क्या कही भी विश्राम दीखता है ? क्या कही भी सतोष है ? ललनाओ ! स्वतंत्रता को चाहने वाला मैं तुम्हारी कारा मे नही पड़ना चाहता। यदि तुम्हारा मेरे साथ अलौकिक प्रेम है, तो मेरे लोकोत्तर कार्य मे सहायता करो। वैयक्तिक प्रीतिका त्याग कर समस्त जीव लोक मे अनन्त प्रीति को उत्पन्न, करना क्या यह आर्योचित कार्य नही है ? एक कुटुम्ब का त्याग कर समस्त कुटुम्बों को अपनाना क्या विशालता नही है ?"

ओह ! यहाँ रतिवेला मे भी विरति की बातें चल रही है, भोग-काल मे योगवृत्ति उभर रही है; स्नेह के समय मे भी विदेह की कथा हो रही है; ललनाओ से घिरा हुआ भी यह व्यक्ति विपयो की इच्छा नही करता। आश्चर्य! आश्चर्य ! यह महान् आश्चर्यकारी है।

यह यौवन का आरम्भ प्रकृति से ही ईर्ष्यालु है। उसमे भी धन की प्रचुरता और महर्षियो के मन को विचलित करने वाली तरुणियो का संगम। आश्चर्य ! उसमे भी विवाह की प्रथम सुहागरात और मध्यरात्रि मे कामुक-ललनाओं के बीच एकाकी बैठना –इतनी अनुकूलता होने पर भी इसका मानस चपल क्यों नही हो रहा है ? क्या विधाता ने-इसका चित्त अयोघन अथवा वज्रकील से बनाया है ? क्या यही वैदेह जनक है जो पुन. शरीर धारण कर यहाँ आया है ? विवाहित होने पर भी इसकी दृढता भीष्म से भी बढ कर है। बत ! बत ! ब्रह्मचर्य का यह साक्षात् दर्शन है। अहो ! इसकी वाणी मे कितना ओज है। इसकी वैराग्यमयी वाग्धारा पुष्करावर्त को भी नीचा दिखा रही है। यह कोई विस्मयकारी नही है, कि सुजीर्ण भोजन की डकारें भी वैसी ही होती है। जिस व्यक्ति मे मन, वाणी और आचरण—इन तीनों योगो की एकता होती है, उसकी वाणी अनुल्लघनीय कैसे न हो। अस्तु ! 'बहुरत्ना वसुन्धरा, यह उक्ति यहाँ चरितार्थ हो रही है। अभी तो मैं अपना कार्य करूँ; मेरे साथी मुक्त हो—ऐसा मार्ग ढूँढू। यह तो सुनिश्चित है

इतीप्, अन्यत्र कामुका। ८. चपलता स्वीकुरुते। ९. अयोघनेन'घण' इतिभाषायाम- १०. भीष्मस्तु अनुद्वाहितो ब्रह्मचारी अयमुद्वाहितोऽपि दृढव्रती, अत एवास्य दार्ढ्यं भीष्म हसति ११. तिरस्करोति १२. वाचोयुक्तिपटुः १३. अन्वेषयेय।

प्रचारा अस्यैव महामनसः स्तम्भन्या शक्त्या, अतोऽयमेव मोचयितुमलम्। गच्छामि तर्हि समीपमेतस्य नापरमौपयिकं[1] संभावयामि। इति विचार्य तस्करराड् निराकुलतया शनकैर्गच्छन् जम्बूकुमारस्य दृग्गोचरो बभूव।

कोऽयं कोऽयमिति सर्वाभिः कम्बुकण्ठीभि[2]र्यावदतर्कि तावज्जम्बू प्राञ्जलिपुटः स प्रार्थयितु लग्नः—"ऋषभदत्त-कुलाङ्गणगगनमणे! द्वयं सगृह्य दीयतामेकम्"।

अलब्धरहस्येण जम्बूकुमारेणाऽन्वयोजि[3]—"के यूयम्? कुत्रत्याः? कथमत्रागमन्? किं द्वयं दातव्यम्? किमेकं प्राप्तव्यम्? स्पष्टनीयं किञ्चित्।"

प्रभवः—अलं परिपृच्छ्यास्मन्नामधेयादिकम्[4], परास्कन्दिनो[5] वयमिति न योग्यतामास्कन्दते[6]नोऽन्वयादीनां[7] निर्णयः। तथापि भवतां पुरो न किमपि गोपनीयमिति मन्वानेन मया किञ्चिद् व्याकरिष्यते यथाशक्यम्। कुमार! अस्ति प्रभवाभिधो राजन्यवंशजोऽय जनः। जिह्रेति[8] मे जिह्वा वक्तुमग्रे। हन्त! साम्प्रतमयं स्तेनाधिपत्यमनुभवति। विचित्रा कर्मणां गतिर्यत् प्रकृत्या प्रकृति[9]-प्रतिपालनोत्सुकोऽपि प्रकृतिपीडाप्रह्वो[10] वरिवर्ति। याञ्चायास्त्विदमैदम्पर्यमस्ति[11] यन्मदीया दस्युपञ्चशती त्वयावरुद्धा गन्तुमनर्हा तिष्ठति, तस्या मुक्तये भवतेऽवस्वापन्युद्घाटन्यौ[12] द्वे विद्ये समर्प्य भवतः सकशात् केवला स्तम्भनी विद्यां याचे, चेत् क्रियते कृपा। भवन्ति हि खलु दयार्द्रहृदया महीयांसः।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोध गद्य-काव्ये

प्रथमः प्रकाशः

---

१. उपाय अेव औपयिकम् २. अङ्गनाभिः ३. अन्वयोजिः=अप्रच्छि (प्रश्नः पृच्छानुयोजनम् इति हेमचन्द्रः) ४. "अलंखल्वोः प्रतिषेधे क्त्वा वा" इति प्रतिषेधे क्त्वा-स्थाने यप्। ५. चौरा. ६ अस्माकम् ७, अन्वयादीनाम्=वंशादीनाम् ८ लज्जते ९. प्रजापालनतत्परः १०. पीडाप्रह्वः=पीडापरायणः

कि मेरे साथी इसी महापुरुष की स्तंभनी-शक्ति से स्तब्ध हो रहे हैं। अतः यही उन्हे मुक्त कर सकता है। मैं इसी के पास जाऊँ; दूसरा कोई उपाय संभव नहीं लगता," ऐसा विचार कर प्रभव निराकुलता से धीरे धीरे चलता हुआ जम्बूकुमार के पास गया। उसको देखते ही ललनाओ ने कहा—'यह कौन है ? यह कौन है ? 'प्रभव ने हाथ जोड़कर जम्बू से कहा—'हे ऋषभदत्त कुल सूर्य ! आप दो वस्तु ग्रहण कर मुझे एक दें।'

जम्बूकुमार इस बात का रहस्य नही पा सका, अतः उसने पूछा—'तुम कौन हो ? कहाँ रहते हो ? यहाँ क्यों आये ? दो चीजें कौनसी देनी है ? एक वस्तु कौनसी प्राप्तव्य है ? सारी बातें स्पष्ट करो ?'

प्रभव ने कहा—"हमारे नाम आदि पूछने से क्या ? हम चोर हैं, अतः हमारे कुलो का निर्णय भी योग्य नही है। तथापि आपके समक्ष मुझे कुछ भी गुप्त नहीं रखना चाहिये। अतः यथाशक्ति मैं आपके प्रश्नो का उत्तर देता हूँ।"

"कुमार ! मैं क्षत्रियवंश का हूँ और मेरा नाम प्रभव है। इसके आगे कुछ भी कहने मे मैं शर्माता हूँ। वर्तमान मे मैं चोरो का अधिपति हूँ। कर्मो की गति विचित्र है, प्रकृति से समस्त प्रजा का प्रतिपालन करने मे उत्सुक भी यह व्यक्ति प्रजा को पीड़ा देने में तत्पर है। याचना का यह तात्पर्य है कि आपने मेरे पाँचसौ चोर साथियो को अवरुद्ध किया है, वे चलने फिरने मे असमर्थ है। उनकी मुक्ति के लिए मैं आपको अवस्वापनी और उद्-घाटनी—इन दो विद्याओ को देकर यदि आप कृपा करें तो आप से केवल स्तंभनी विद्या की याचना करता हूँ। महान् व्यक्ति दयालु हृदय वाले होते हैं।'★

पहला प्रकाश समाप्त

(आसक्तः प्रवण. प्रह्व : प्रसितश्चपरायणः इति हेमचन्द्रः) ११. ऐदम्पर्यम्= तात्पर्यम् १२. अवस्वापन्या विद्यया अन्ये निद्राऽधीना भवन्ति, उद्घाटन्या विद्यया च द्वारयन्त्रादीनि उद्घाट्यन्ते।



द्वितीयः प्रकाशः

अयि प्रभव ! न मयावरुद्धा भावत्की पारिपन्थिकमण्डली[1]। कथमहं मान्त्रिकी विद्यां प्रयुनज्मि[2] यत् तां जानेऽपि नहि। सम्भाव्यते खलु कस्याश्चिन्मयि प्रेमपरिप्लुताया दिव्यप्रभावाया देवतायाश्चेष्टितमिदम्। तस्करेश ! तव दित्सा[3] आदित्सा[4] च मत्तो नहि फलवती भवित्री, यदहं सकलमपि स्वापतेयमष्टाप्येता[5] रमणीः सह ससारेण जिहासामि[6], नैर्ग्रन्थीं दीक्षां च भिक्षये।[7]

साश्चर्यं सखेदं प्रभवः—'अहो ! किमभाणि भवता। हन्त ! जिहासति भवान् करायत्तं भाग्योपनतं वैषयिकं सुखम् ? केनैषा वञ्चकवृषभेण[8] शिक्षा प्रत्यक्षीकृता ? कथमिदं सुखोचितं वपुः सहिष्यते दारुणान् द्वाविंशतिपरीषहान् ? किमियं नवनीतकोमला देहलतिका भ्रमिष्यति भैक्षमादातु[9] प्रतिगृहम् ? किमिमौ विहायितव्यसनिनौ[10] करौ याञ्चावञ्चितौ भविष्यतः ? किमेतावस्पृष्टभूतलौ क्रमौ[11] क्रमिष्यतः परः-सहस्रान् क्रोशान् ? भ्रमरश्यामलाः कचाः किमु रोमहर्षकृल्लोच सोढारः? अब्रह्मण्यम्-अब्रह्मण्यम् ! नैवम्-नैवम् ! कदापि नैषा वार्त्ता भवादृशामौचितीमञ्चति। भवन्तु ते मुण्डिता, लुञ्चिता, जटिला, नग्नाटा, भस्मिनस्त्रिदण्डिनः, पाषण्डिनो, योगिनः, संन्यासिनो वा, ये दारिद्र्याभिभूता, अप्राप्तपरिग्रहा[12], वामाविरहविधुराः

---

१. चौरमण्डली २. प्रयोगं करोमि ३. दातुमिच्छा ४. आदातुमिच्छा ५. स्वापतेयम्-धनम् ६. हातुमिच्छामि ७. याचे ८. महाधूर्त्तेन (पापो धूर्त्तस्तु-वञ्चकः, इति हेमचन्द्रः) ९. भिक्षाणां समूहो भैक्षम् १०. दानतत्परौ (विहायितं

★ ## दूसरा प्रकाश

जम्बूकुमार ने कहा—"प्रभव ! मैंने तुम्हारी चोरमण्डली को अवरुद्ध नही किया है। मैं कैसे मान्त्रिक विद्या का प्रयोग करू ँ, जबकि मैं उसे जानता ही नहीं। लगता है मेरे पर अत्यन्त अनुग्रह रखने वाले किसी देव ने ऐसा किया हो। चोराधिप ! तेरी आदान-प्रदान की इच्छा मेरे से नही फलेगी (मुझ से पूरी नही होगी) क्योकि मैं समस्त धन और आठ रमणियो सहित सारे संसार का त्याग कर नैर्ग्रन्थ-दीक्षा लेने जा रहा हूँ।"

अत्यन्त विस्मित होते हुए प्रभव ने कहा—"अहो ! आपने क्या कहा ? खेद है, आप अपने हस्तगत और भाग्योपनत वैषयिक सुखो का त्याग कर रहे हैं ? यह शिक्षा किस वञ्चक-शिरोमणि ने दी ? यह सुखोचित शरीर किस तरह बावीस परीषह को सहन करेगा ? यह अत्यन्त कोमल काया किस प्रकार भिक्षा के लिए घर-घर घूमेगी ? दान देने के अभ्यस्त आप अपने हाथो को याचना के लिए कैसे पसारेंगे ? जमीन पर नही टिकने वाले ये आपके दोनों पैर क्या हजारो कोस चल सकेंगे ? आपके ये अत्यन्त काले केश क्या रोमाञ्चित कर देने वाला लोच सह सकेंगे। यह ठीक नही है, यह ठीक नही है ! ऐसा नहीं होगा, ऐसा नहीं होगा ! आप जैसे व्यक्तियो के लिए ऐसी बातें उचित नही है। वे लोग भले ही मुण्डित हों लुञ्चित हों, जटाधारी हों, नग्न घूमते हो, राख लगाते हों, त्रिदण्डी हों, पाखण्डी हों, योगी हो, संन्यासी हों—जो दरिद्रता से पराजित हो, जिन्हे स्त्री प्राप्त नही है, जो स्त्री के

वितरणं, इति हेमचन्द्रः) ११. चरणौ १२. अलब्धस्त्रीका—(जनी जाया परिग्रह, इति हेमचन्द्रः)।

स्वजन-तिरस्कृता, दुःखमुदरम्भरयो, जराजीर्णा वा । भवांस्तु निर्भर-विभवभरभ्राजिष्णुः पित्रोः प्रेयानेकाक्ष्येव पुत्रः । भोगयोग्यं च करणम्[1], लावण्यलीलालहर्यो ललना बलवद्भवन्तमनुनयन्ति[2], स्तवांकतपाणिपल्लवाश्च प्रार्थयन्ते । तत्र वैमुख्याख्यापन[3] न किमु ख्यापयति भवतः प्रेक्षादौर्बल्यम् ? हा हा ! भीष्माशापिशाची । सर्वकाम-समर्पितोऽपि न हि संतुष्यति, इच्छति नूनमितोऽपि[4] त्रिविष्टप-विशिष्ट महत्तमं शर्म[5], स्वर्गाङ्गनानामधरासवमापातुं च ।

जम्बू ! अङ्के रममाणं मृगाङ्कमुखं पाकं विहाय भ्रूणस्थपृथु-कमनोरथ[6] किमु न कृतार्थयसि साक्षात् ? सन्ति खलु सलिललिखित-तुल्यानि मनोमोदकमनोरमाणि शास्त्रवर्णितानि स्वर्गीयसुखानि । आगतः कोऽपि तादृक् सौख्यपरम्परामनुभवन् विभासुरः सुरस्ते दृष्टिपथम् ? नहि-नहि, मिथ्यैषा कपोलकल्पिता कल्पना । हा ! विप्रलब्धोऽयं[7] सर्वोऽपि जीवलोको निजोदरपूरणप्रसितैर्महोपाधि विभ्राणैर्वावदूकै[8]र्वचिंयमवृन्दैः ।

कुमार ! नास्ति किमपि प्राप्तव्यमग्रे प्राप्तसुखपरित्यागेन । यदस्ति तदत्रैव, ततो भुज्यतां, पीयतां, दीयतां, नीयतां च यथोचितम् । अरे ! तारुण्येऽपि येन नाऽऽलिङ्गितास्तरुण्य. स तु प्रत्यक्षो नृपशुः । सन्ति नूनमप्सरायमाणा एता अेवाप्सरसः । अन्यास्तु मधुरकल्पनामयविचित्रचित्रचित्रिताः, पुष्करपुष्करायिताः[9] । अेप अेव प्रभूतपुण्यपरिपाको नाको[10] नेतरः । भवानेव सर्वासां सम्पदा विभूर्मूर्त्तिमानृभुः[11] । अतस्त्यक्तव्यमत्यन्तगाद्ध्र्यम् । संतोष्टव्यं दैवोपनत-शर्मसाम्राज्येन । पुनर्यदा पुत्र-पौत्रपरिग्रहपरिवृतः सकलेन्द्रियार्थ-वासनानिर्वासितो वर्षीयान् स्याद् भवान् तदानी वीतशङ्कं जगज्जि-हासा[12], कर्त्तव्या; नहि रोत्स्यति कोऽपि भवन्तम् ।

---

१ शरीरम् २. बलवत्-अतीव, (बलवत्, सुष्ठु, किमुताऽतीव निर्भरे, इति हेमचन्द्रः) ३. विमुखता दर्शनम् ४. त्रिविष्टपम्-स्वर्गस्तेन विशिष्टम्, स्वर्गीय-मित्यर्थ. ५. सुखम् ६. गर्भस्थपुत्राभिलापम् ७. वञ्चितः ८ वावदूकैः-वचन-कुशलैः ९. पुष्करम्-आकाशम्, पुष्करम्-कमलम्, आकाशकमलसन्निभा

विरह से विधुर हैं, जो अपने लोगों से तिरस्कृत है, जो अत्यन्त कठिनाई से पेट भरते हैं अथवा जो बुढापे से जीर्ण हो गए है। आप तो अतुल वैभव के स्वामी हैं। अपने माता-पिता के अत्यन्त प्रिय एकाकी पुत्र है। आपकी समस्त इन्द्रियां भोग के योग्य हैं। लावण्य-युक्त ललनाएं आपका अति अनुनय करती हैं, वद्धाञ्जलि हो आपसे प्रार्थना करती हैं। ऐसे समय में आपकी विमुखता क्या बुद्धि की दुर्वलता नही वता रही है? हा, हा! यह पिशाची आशा भयंकर है। समस्त कामों को पाकर भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता। वह इससे भी अधिक विशिष्ट स्वर्ग-सुख की इच्छा करता है और अप्सराओ के अधरामृत को पीना चाहता है।

'जम्बू! अपनी गोद मे खेलने वाले मृगाङ्कमुख वालक को छोड़कर गर्भस्थ वालक के मनोरथ को क्या तुम कृतार्थ नही कर रहे हो? शास्त्रो में वर्णित यें स्वर्गसुख पानी पर खिंची हुई रेखा की तरह क्षणभंगुर तथा मन के द्वारा कल्पित मोदक की तरह मनोहर मात्र है। क्या ऐसी स्वर्गीय परम्परा का अनुभव करने वाला कोई देवता तुम्हे दीखा है? नहीं, नही, यह सारा मिथ्या है, कपोल-कल्पित है। हा, हा! यह सारा ससार पेटू, वाचाल तथा महान् उपाधियो को धारण करने वाले साधुओ से ठगा गया है।'

"कुमार! प्राप्त सुख के परित्याग से आगे कुछ भी नहीं मिलेगा, जो है वह यही है। इसलिए यथेष्ट खाओ, पीओ, दो और लो। अरे! जिसने यौवन में तरुणियो का आलिंगन नहीं किया वह मनुष्य रूपमें प्रत्यक्ष ही पशु है। निश्चय ही ये रमणियाँ अप्सराओ के तुल्य हैं, दूसरी सारी कल्पनाएं मधुर कल्पनाओं के विचित्र चित्र से चित्रित आकाश-कमलवत् है। यही समस्त पुण्य का परिपाक है और स्वर्ग है, दूसरा नही। आप ही समस्त सम्पदाओं के विभू साकार देवता हैं। इसलिए अत्यन्त गृद्धि का परित्याग कर देना चाहिये। अपने आपको भाग्य द्वारा उपनत सुख साम्राज्य से संतुष्ट करना चाहिये। जव आप पुत्र-पौत्र आदि परिवार से युक्त हो, और समस्त इन्द्रिय-विषयो की वासना से रहित वयोवृद्ध हों तव प्रसन्नता से संसार को त्यागने की इच्छा करें, तव आपको कोई नही रोकेगा।'

इत्यर्थः १०. स्वर्गः ११ ऋभुः-देवता (देवाः सुपर्वसुरनिर्जरदेवतभूः, इति हेमचन्द्रः) १२. जगद् हातुमिच्छा।

धीमन्! नावलोकसे किमासामष्टानामपि लीलावतीनां विमनायमानानि वदनानि ? नावबुध्यसे किंकिल हिमानीहतानीव नेत्रकमलानि सर्वासाम् ? नावधत्से[१] किमेतासां पक्वबिम्बफलमप्यधरीकुर्वन्ति[२] विधुराण्यधराणि ? हा हा! आसां वचनान्यपि विषादमुद्वमन्ति, श्वासोच्छ्वासा अपि तनुतां वितन्वते, अपाङ्गसङ्गीनि[३] चाश्रूणि पतनोन्मुखानि दृश्यन्ते। कि बहुना, सर्वापि देहयष्टिः कष्टदशां स्पष्टयति। किमेतदेव दयितस्य कारुण्यम् ? किमेषैव परोपकारपटीयसस्ते विशिष्टा रीतिः ? अलमलमनेन कार्येण, कृतं कृतमनेन ते कारुण्येन, पर्याप्तं च तवाप्तोक्तिप्रत्ययेन[४]।

सखे! प्रत्यादिश्यतां[५] झगिति विमर्शशून्यसेविता स्वकीया साहसिकी विचारपद्धतिः, गम्यतां खलु भूयिष्ठशिष्टजनक्षुण्णे महापथे।"

प्रभवप्रवेदितां विचारधारामाकर्ण्य वशिनां वरेण्यो[६] जम्बू धीरोदात्तया वाचा प्रत्युवाच—"तस्करेश! वाचोयुक्तिपाटवं तु त्वयि सुष्ठु पोस्फुरीति। तव शारदासङ्गता[७] कथा तु शालभञ्जिकेव[८] स्पष्ट दृग्गोचरा जाजायते श्रुतिस्वभावापि,[९] किन्तु अनवसिततात्पर्येण स्तेनवर्येण यदवाचि तत् तत्त्वसाचिव्यं[१०] कियदुच्चिनोतीति प्रादुःकरिष्येऽहम्। यथा—नाहं केनापि विप्रतारकेण[११] विप्रतारितोऽस्मि, प्रत्युत जगत्तारकेण तारितोऽस्मि। प्रभव! प्रागहमपि जीवनसर्वस्वं विषयजन्यसुखमेव मम्मन्यमान आसम्, किन्तु यदा महावीरस्योत्तराधिकारिणां सुधर्मस्वामिनां दर्शनं जात ततः प्रभृति तमोमये मे जीवनरहस्ये विज्ञानज्योतिराविर्भूतम्, विज्ञात च विकृतमस्माभिर्विधीयमानं प्रात्यहिकं[१२] कृत्यम्।

अहो! स्वामी जगज्जनानां शैशवी दशा प्रत्यपादि,[१३] यथा—अनवसिततथ्या रथ्यायां चिक्रीडिषवः शिशव. सैकतं[१४] निलयं निर्मान्ति।

---

१. न ध्यानददासि २. न्यक् कुर्वन्ति ३ नेत्रप्रान्तगतानि, (अक्ष्णोर्बाह्यान्तावपाङ्गौ इति हेमचन्द्रः) ४. आप्तोक्ति-प्रत्ययेन–शास्त्रविश्वासेन ५. निराक्रियताम् (प्रत्यादेशो निराकृतिः इति हेमचन्द्रः) ६. दमिना श्रेष्ठः ७. वाणीविषयमागता

'मतिमन् ! क्या आप इन आठों ललनाओ के विमनस्क मुखो को नही देख रहे हैं ? क्या आप इन सव के हिमपात से कुम्हलाये हुए नेत्र रूपी कमलों को नही निहार रहे है ? क्या आप नही जानते कि पके हुए विम्व-फल को भी नीचा दिखाने वाले इनके होठ भी आज म्लान हो रहे हैं ? हा ! हा ! इनके वचन भी विषाद को वाहर फेंक रहे है, श्वासोच्छ्वास भी क्षीण हो रहे है, ज्यादा क्या कहूँ, इनका सारा शरीर कष्ट दशा की सूचना दे रहा है । क्या यही आपकी करुणा है ? क्या परोपकार-परायण आपकी यही विशिष्ट रीति है ? वस, वस, यह कार्य वहुत हो चुका, आपकी करुणा भी वहुत हो चुकी ! आपका शास्त्र-विश्वास भी पर्याप्त हो चुका है । मित्रवर ! शीघ्र ही अपने इस विमर्श-शून्य और साहसिक विचार का निराकरण करें और अनेक शिष्ट-जनो द्वारा आचरित महापथ पर चलें ।'

प्रभव की विचारधारा को सुनकर जितेन्द्रिय जम्वूकुमार ने धीर और उदात्त वाणी मे कहा—'चोराधिपते ! तुम्हारे मे वाणी की पटुता स्फुटित हो रही है । तुम्हारी वाणी से सम्पृक्त कथन कानो मे सुनने योग्य होते हुए भी पुतली की तरह आंखो के सामने नाचने लग जाता है । किन्तु विना तात्पर्य को जाने ही तुमने जो कहा है, वह कितना वास्तविक है यह मैं प्रकट करता हूँ । मैं किसी भी ठग से नही ठगा गया हूं, किन्तु जगत के तारक भगवान् से उवारा गया हूँ । प्रभव ! पहले मैं भी विषयजन्य सुख को ही जीवन का सर्वस्व मानता था, किन्तु जव भगवान् श्री महावीर के उत्तराधिकारी श्री सुधर्मास्वामी के दर्शन हुए तव से मेरे अन्धकारमय जीवन-रहस्य मे विज्ञान की ज्योति प्रगट हुई है । मैंने जान लिया है कि हमारे दैनदिन के कार्य विकार युक्त हैं ।

अहो ! सुधर्मास्वामी ने जगत् के जीवों की शैशव-दशा का कितना सुन्दर प्रतिपादन किया हैं । उन्होने कहा है—तत्त्वो के अजान, गलियो मे खेलने वाले, वालक वालु-कणो से घर वनाते है । उनमे तन्मय होकर वे 'यह

---

८. पुत्तलिकेव ९. कर्ण-विषयाऽपि १०. तत्त्वसाहचर्यम् ११. धूर्तेन । १२. दैनन्दिनम् १३. प्रतिपादितवान् (पदेर्णिच् तेतलोपश्च, इति कर्तरि णिच्) १३. सिकताया इदं सैकतम्, वालुकामयमित्यर्थः ।

तदेकतानता मदीयं मन्दिरमित्युदीरयन्तो हृष्यन्ति। परेण भूमिसात्कृते तदावसथे[१] रोरुदति। कदाचित् स्वहस्तगृहीतां यष्टिमारुढा अश्ववारायन्ते[२]। जातु प्राप्तपराभवाः क्रीडायामव्रीडाः स्वयमप्यश्वायन्ते। कलहायन्ते कर्हिचिदतितुच्छवस्तुकृतेऽपि परस्परम्। मित्रीयन्ति[३] क्षणान्तरं तद वार्ता विस्मृत्य निर्वैरमन्योन्यम्। तद्वद् वयमपि न किं वर्त्तामहे? भस्मीभविष्यद् भूघनं[४] न कि ममेति मन्यामहे? अभ्रविभ्र-[५] ममाविभ्रद्वैभवं न किं सञ्चेतु चेष्टामहे? नाना पथिसचारिभिः पथिकैरिव परिजनैः सह न किं दृढं सङ्गतमादध्महे[६]? चलदलदल-चञ्चले[७] जीवनक्षणे न किमाकाशसंकाशामाशामासेवामहे? शावास्त्वविज्ञातभावा.[८], वयं त्वभिज्ञाभिमानभाजोऽपि मौढ्यात् तेभ्योऽप्यतिशयामहे। हा! हा! किञ्चित् भौतिकशर्मानुकूल्ये प्रोत्फुल्लवदनारविन्दा, किञ्चिदनभिमते प्रकटिते म्लानाननाश्च जायामहे। नहि किमेषा शैशवी क्रीडा? नहि किमेतदज्ञानविलसितम्?

वुध्यध्वं-वुध्यध्वं भो भव्याः? मा शयिध्वं पलायनार्हे जीवनलवे। युष्माभिः किं साधितमद्यावधि, कृतान्तस्तु प्रतिपलं साध्नोति स्वकीयं शरारु कार्यम्[९]। किमु यूयमत्र जन्मसङ्ख्यापूर्त्तये हि जातजन्मानः? किं पूर्व-जन्मसञ्चितपर्युषितान्नभक्षणे[१०] हि भवतां वैचक्षण्यम्? नायमनर्घ्योऽवसरोऽसकृल्लभ्य.[११]। नास्मिन् रत्नद्वीपेऽवतारो वारं-वार भावी। अत्रागत्यापि चेद् दारिद्र्यदरिद्रता न प्राप्ता तर्हि इतरत्र तु वाञ्छनीयमेव किम्?

अहो! अत्र तु परितो धर्मस्य प्रक्रमः[१२]–अहिंसया, सत्येन, वितरणेन ब्रह्मचर्येण, क्षमया, मुक्त्या[१३] च। अतो विधीयतां किमपि विधेयम्, दीयतां किमपि देयम्, साध्यतां किमपि साध्यम्, त्यज्यतां च किमपि

१. तद्गृहे २. अश्ववारा इव आचरन्तीति ३. मित्रवत् आचरन्ति, (आधाराच्चोपमानादाचारे, इति वा क्यच्) यथा—पुत्र मिवाचरति पुत्रीयति च्छात्रम्। ४. तनु (क्षेत्रगात्रतनुभूघनास्तनूः, इति हेमचन्द्रः) ५. वार्दलच्छायाम् ६. मैत्रीम् (मैत्र्यजर्याणि संगतम्, इति हेमचन्द्रः) ७. चलदलस्य पिप्पलवृक्षस्य, दलम्-पत्रम्-तद्वत् चञ्चलस्तस्मिन् ८. शावाः=वालाः (वालः पाकः

मेरा घर है' ऐसा कहते हुए हर्षित होते है। दूसरों के द्वारा इन निर्मित घरो का नाश होने पर वे रोते हैं। कभी-कभी वे अपने हाथ की लकड़ी पर घुड़सवारी करते हैं। कभी इस खेल मे हार जाने पर वे स्वयं घोडे की तरह आचरण करते हैं। कभी-कभी अति तुच्छ वस्तु के लिए भी परस्पर कलह करते हैं। क्षण के पश्चात् ही उस वार्ता को भूल कर आपस मे मित्र बन जाते हैं क्या हम भी इसी तरह नहीं बरत रहे हैं? भस्मीभूत होने वाले शरीर को क्या हम हमारा नहीं मानते ? क्या हम बादलो की तरह चंचल वैभव का संचय करने का प्रयत्न नही करते ? अनेक पथ के पथिको की तरह अपने परिजनो के साथ क्या हम दृढ़ सम्बन्ध नही करते ? पीपल के पत्ते की तरह चंचल जीवन-क्षण मे क्या हम आकाश-सदृश आशा का सेवन नही करते ? बालक अज्ञानी होते हैं, किन्तु ज्ञान के अहंकार मे पलने वाले भी हम अपनी मूर्खता से उन बालको से आगे बढ़ जाते है। हा! हा! भौतिक सुख की थोड़ी सी अनुकूलता मे हमारा मुख प्रसन्नता से फूल उठता है और थोड़ी सी विपरीतता में कुम्हला जाता है—क्या यह शैशवी क्रीड़ा नही है ? क्या यह अज्ञान का विलास नही है ?

जागो, जागो, हे भव्य लोको! इस क्षण-विनाशी जीवनलव मे प्रमाद मत करो। तुमने अभी तक क्या साधा है ? यमराज अपना घातक कार्य प्रति-दिन साध ही रहा है। क्या तुम यहाँ जन्म-संख्या की पूर्ति के लिए ही जन्म हो ? क्या पूर्वभव मे संचित बासी अन्न खाने मे ही तुम्हारी विचक्षणता है ? बहुमूल्य समय बार बार प्राप्त नही होता ? इस रत्नद्वीप मे बार बार आना संभव नहीं है। यदि यहाँ आकर भी दरिद्रता का नाश नही हुआ तो अन्यत्र होना ही क्या है ?

अहो! यहा तो चारों ओर धर्म का ही प्रक्रम है। अहिंसा से, सत्य से, ब्रह्मचर्य से क्षमा से, निर्लोभता से, इनमे से जो करना है वह करो, जो कुछ भी देना है वह दो, जो कुछ साधना है, उसे साधो, जो छोड़ना है उसे छोड़ो!

शिशुर्डिम्भः पोतः शावः स्तनन्धयः इति हेमचन्द्रः) ९. शरारु कार्यम्=घातुकम् कार्यम् (हिंस्रे शरारुघातुकौ, इति हेमचन्द्रः) १०. "बासी अन्न" इति भाषायाम् ११. अनर्घ्यः=अमूल्यः १२. प्रस्तावः अवसर इत्यर्थः १३. निर्लोभतया।

त्याज्यम् । अये ! पशवोऽपि न सन्ति किमु पञ्चाक्षजुषः[१] प्राणिनः ? युष्माकममीषां च किं पार्थक्यमस्तीति विवेचितं कर्हिचित् चेतसि ? आहार-निद्रा-भय-कामचेष्टाभिस्तु यौष्माकमाचरणमतिरिणक्ति[२] नूनमेतेषां संज्ञाचतुष्टयीम्; तर्हि कथङ्कार यूय गौरवास्पदमेतेभ्यः ? किंतु यदभिनिविशते भावत्की प्रतिपद्[३] हिताहिताऽऽहितां[४] विविक्तिम्[५], शुभे चिकीर्षा[६]ऽवद्ये[७] विरिरसा चैष अेव महान् विभेदः । नास्ति चेदयमपि विवेकस्तर्हि यूयमपि मर्त्यरूपिणः पशवः । अङ्ग[८] तस्कराधिप ! कियद् व्यावर्णयामि महात्मभिर्यद् यद् व्यवेचि, तदवर्णनीयमेव वर्णैः श्रोतृगणस्य हृदयेऽनुत्पन्नपूर्विणो भावाः समुत्पन्नाः । अवतमसे[९] बृहदालोकः प्रादुरभूत् । मदीय हृदयस्य तु कपाटा उज्जघटिरे । कापि सुषुप्तिदशा उद्बुद्धा, कापि नव्या क्रान्तिः समुत्क्रान्ता, अन्त.करणे चालौकिकविलोडनं भवितु लग्नम्—हा ! हा ! मया कियाननेहा[१०] [११]मोघमत्यवाहि[१२] । अज्ञाप्यपि नहि निर्मापितव्यं कर्म । परामर्श्यपि नहि भृश पराम्रष्टव्यं तत्त्वम् । खलु साम्प्रतमलं विलम्बेन साधयामि सिषाधयिषितं[१३] कार्यम् ।

इत्यवधार्य सयमाय कृतनिश्चयो वन्दित्वा प्रभुपदमित्थं व्यजिज्ञपम् "नाथ ! निपीतं श्रौमत्कं[१४] वाङ्मयममृतम्, श्रद्धिता भागवती श्रद्धेया वाणी, रुचितश्चात्मप्रदेशेषु रुच्योपदेशस्ते । भगवन् ! अनुज्ञाप्य मातापितरौ जाज्वल्यमानजगज्जिहासया शान्त्येकपद तत्रभवच्छरण[१५] प्रपत्स्ये ?[१६]

चौरराट् ! इति विज्ञप्य[१७] यावदहं सद्म प्रत्यागच्छामि तावदध्वनि रोमाञ्चकारिण्येकाभिनवा घटना घटिता ; यत् प्रविष्टदेशीये[१८] मयि सिंहद्वारदेशेऽतर्कितः[१९] पुरगोपुरपातः[२०] संजातः । त्रिचतुरा[२१] अेव दूरी-

---

१. पञ्चेन्द्रिया २. अतिरिणक्ति=आधिक्यं भजतीत्यर्थः ३. प्रतिभा (प्रतिभा प्रतिपत् प्रज्ञा, इति हेमचन्द्रः) ४. हिताहिताभ्या आहिता-वासिताम् ५. विवेकम् ६ कर्तुमिच्छा ७. कुत्सिते, (अवद्य काण्डकुत्सिते इति हेमचन्द्र.) विरन्तुमिच्छा ८ "अङ्ग" इति कोमलाऽऽमन्त्रणे ९. अन्धतमसे १०. अनेहा=समयः, (स्यात्कालः,समयोदिष्टानेहसौ सर्वमूषकः इति हेमचन्द्रः) ११. निरर्थकम्, (वन्ध्ये मोघाऽफलमुधा, अन्तर्गडु निरर्थकम्, इति हेमचन्द्रः)

अरे ! अरे ! क्या पशु भी पञ्चेन्द्रिय प्राणी नही है ? क्या तुमने यह कभी विवेक किया कि हम मे और पशुओ मे क्या अन्तर है ? तुम्हारा आहार-निद्रा, भय और काम चेष्टाएँ तो इनकी संज्ञा चतुष्टयी से अधिक है। ऐसी स्थिति मे तुम इन से गौरवास्पद कैसे हो ? किन्तु तुम्हारी बुद्धि हेय और उपादेय का पार्थक्य करती है। तुममे शुभ कार्य करने की अभिलाषा और अशुभ कार्य करने की विरति है—यही महान् विभेद है। यदि यह विवेक भी नही तो तुम भी मनुष्य रूप मे पशु हो। हे तस्कराधिप ! कितना कहूँ, जो जो महात्माओं ने कहा वह वर्णो के द्वारा अवर्णनीय है। श्रोताओं के हृदय मे नये नये भाव उत्पन्न हुए हैं, अन्धकार मे बृहद् आलोक प्रगट हुआ है। मेरे हृदय के द्वार खुल गये हैं, सुषुप्त दशा उद्‌बुद्ध हो गई है। कोई नई क्रान्ति उत्पन्न हुई है। मेरे अन्तःकरण मे कोई अलौकिक विलोडन होने लगा है। हा ! हा ! मैंने कितना समय व्यर्थ गमाया है। अपने कर्त्तव्य को मैंने जाना ही नही, सोचने योग्य तत्वो को सोचा ही नही।—खैर, अब विलम्ब नही करना चाहिये। मैं अपना इष्ट कार्य सिद्ध करूँ –

"यह विचार कर मैंने संयम लेने का निश्चय किया। तदनन्तर वन्दना कर भगवान् से मैंने ऐसी प्रार्थना की—नाथ ! मैंने आपके वचनो का अमृतपान कर लिया। आपकी श्रद्धेय वाणी पर मैंने श्रद्धा की है। आपका उपदेश मुझे रुचिकर लगा। भगवन् ! मैं माता पिता की आज्ञा लेकर जाज्वल्यमान जगत् को त्यागने की इच्छा से आपका शांतिप्रद शरण प्राप्त करूँगा।"

चोराधिप ! इतना कह कर जब मैं अपने घर लौट रहा था तब मार्ग मे एक रोमाचकारी नई घटना घटी। मै नगर के प्रवेश द्वार मे प्रविष्ट हुआ ही था कि उसका गोपुर (दरवाजा) नीचे आ गिरा। मैं उस समय उससे तीन चार कदम ही दूर था, अतः मेरी रक्षा हो गई, अन्यथा मैं मर जाता। इस

११. अतिवाहित. १२. अबोधि १३ साधयितुमिष्टम् १४. श्रीमतामिदम् १५. तत्र भवता-पूज्यानां शरणं, तत्रभवच्छरणम्, (पूज्ये तत्र भवानत्रभवाश्च भगवानपि, इति हेमचन्द्रः) १६ स्वीकरिष्ये १७ निवेद्य १८, ईषदूने प्रविष्टे —प्रविष्टदेशीये १९. सिंहद्वारदेशे, 'मुख्य दरवाजा" इति भाषायाम् २० पूर्द्वारपतनम् २१. त्रयो वा चत्वारो वा-त्रिचतुराः।

[illegible]

[illegible]

इति [illegible]
द्वितीयः प्रकाशः

१. [illegible] इति [illegible]) २. [illegible] ३. योगः ४. [illegible] ५. [illegible] ६. [illegible]

और लज्जित व्यक्तियो के लिए ही है, यह अज्ञानमूलक है। लोलुपी व्यक्तियो का संयम मे कोई अधिकार नही है। यहाँ सुख सामग्री को अपने अधीन रखने वाले तथा विषयो से विमुख रहने वाले व्यक्तियों का ही प्रवेश हो सकता है। शक्तिशाली पुरुषो का ही यह कार्य है, कायर व्यक्तियो के लिए यहाँ स्थान नही है।

तस्करेश ! मैं दैविक-सुखो के लिए भी वार्तमानिक सुखो को नही छोड़ रहा हूँ। क्या वहाँ भी संयोग-वियोग आदि क्लेश तथा काल का भय नही है ? क्या देव भी इर्ष्या के वशीभूत होकर परस्पर नही लड़ते ? क्या उनमे अपने-अपने स्वामी द्वारा निर्मित सत्कार और तिरस्कार नही है ? परन्तु जिसके लिए उनके अन्त:करण भी लालायित रहते हैं और सदा उसे पाना चाहते हैं, उसी (संयम) की प्राप्ति के लिए मेरा यह सफल प्रयास है। जिसको प्रगाढ और अचिन्त्य वैक्रयिक सामर्थ्य-सम्पन्न देव भी नही कर सकते, वह इस मनुष्य जन्म मे सहजतया किया जा सकता है। उसी के लिए मैं प्रयत्न कर रहा हूं। मेरा अन्त:करण किसी आशंसा से वासित नही हैं। आयुष्मन् ! यौवन मे युवतियो के भोग के लिए जो तुमने मुझे प्रेरणा दी, उसका केवल मधु-बिन्दु के दृष्टान्त से ही सम्यग् दिग्दर्शन हो सकेगा, इसलिए उसे सुनो, मैं उसका वर्णन कर रहा हूं।"

दूसरा प्रकाश समाप्त

---

७. जन्मना ८. साधयितुमिच्छुना ९. आशंसया इच्छया, वासितमन्त:करणं यस्य सः १०. प्रेरणाऽकारि।

भूताः पादा ररक्षुर्मां तदानीमन्यथा परासुरेवाहमासम्[1]। अनेनारिष्टेन स्पष्टीकृतो मामकोऽध्वा[2], व्यचिन्तयमहम्—अहो ! प्रतिपदं मृत्योः साध्वसमत्रभवता[3] सुधर्मणा भूस्पृशां[4] शिरस्सु पोस्फुरद् यददर्शि तदध्यक्ष[5]मेवान्वभावि[6] मया। हन्त ! चेदधुनैवाहं व्यापन्नः स्यां तर्हि मामकीनाः पित्रादयो मयि महद्धार्द माभेजानाः किं कुर्वीरन् ? क्षणंमथ्र पातातिरिक्त किमथवा ? हा ! कालस्य गहना गतिः, क्रूरकर्मायं न जाने कदागत्य कवलयेत्। अनुकामीनोऽय[7] कीनाशो[8] न हि परकल्पितां कल्पनां विभावयेत्, हस्तयेदनवसरेऽपि[9] वराकं प्राणिनम्। तर्हि कथङ्कारमहमेन प्रतीक्षे ? नैवम्, साम्प्रतमेव निष्प्रत्यूहं[10] मुमुक्षुमार्गं विदधे। इति निर्णीय तदानीमेव प्रत्यावलितः, सुधर्मस्वामिन गत्वा संयमस्य प्रतिभूकल्प[11]माजन्म ब्रह्मचर्यमुररीचकार। सच्चारित्ररत्नावाप्तये तद्दिनादारभ्यैव जातोऽहमुन्मनाः[12]। सखे ! यत् त्वया प्रव्रज्याकष्टानि स्पष्टयता मदकर्कशवर्ष्मणोऽसहिष्णुता[12]प्रादर्शि तत्रायं विवेकः—संसारिणां किमामनस्यानि[13] स्तोकतराणि विद्यन्ते ? भूरि विभूतिभाजोऽपि नानाप्रतिभयामयभाष्ट्रे[14] नहि चणक[15] सध्रीचीनतामञ्चन्ति ? विभवभावनाभिभूता नरा न किं दुःसहतिरस्कारभाजनानि जायन्ते ? विविध-कौटुम्बिककलहतनुनपात्सन्तप्ता न किमन्तर्बाष्पा[16] दृश्यन्ते ? दुर्दमदारिद्र्यदवदन्दह्यमाना दयनीयदशा किमनेके न दरीदृश्यन्ते ? परन्तु तत्र क्लेशाभिनिवेशः, अत्र तु परमानन्दोदयः। तत्र म्लानं मुखम् अत्र तु पुष्पवद् विकस्वरम्। तत्राधेराधिक्यम्[17],अत्र तु शान्तेः साम्राज्यम्। तत्र परेषां भृशमभिभवः, अत्र तु समेषां हार्दिक. सत्कार.। तत्राध.पतनावसरः, अत्र तूत्थानप्रस्तावः। अवबुद्धं त्वया त्यागभोगयोरन्तरम् ? पीडितानां व्रीडितानां[18]कृते भिक्षुत्वं यत् त्वया न्यवेदि

---

१ मृत· व्यापन्नोऽपगतोमृतः परासुः····इति हेमचन्द्रः) २. अध्वा=मार्गः ३. भयम्, (भयं भीर्भीनिरातङ्क, आशङ्का साध्वसं दरः, इति हेमचन्द्रः) ४. मनुष्याणाम् ५. अध्यक्षम्=प्रत्यक्षम् ६. अन्वभावि=अनुभूतम् ७. स्वेच्छाचारी = कालः ९. हस्ताधीनं कुर्यात् १०. निर्विघ्नम् (विघ्नोऽन्तरायप्रत्यूह० इति हेमचन्द्रः) ११. साक्षिरूपम् १२. उन्मनाः=उत्सुकः (उत्कस्तूत्सुक

उपद्रव ने मेरा मार्ग स्पष्ट कर दिया। मैंने सोचा—अहो! भगवान सुधर्मा ने मनुष्यो के शिर पर प्रतिपल घूमने वाला मृत्यु का जो भय दिखाया, उसका आज मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। खेद! यदि मैं आज ही मर जाता तो मुझे अत्यन्त प्यार करने वाले मेरे माता-पिता क्षण भर आँसू वहाने के अतिरिक्त और क्या करते? हा! काल की गति गहन है। मैं नही जानता क्रूर कर्म करने वाला यह काल कव कवलित कर ले। स्वेच्छाचारी यह काल दूसरो की कल्पनाओं की परवाह नही करता। वह विना अवसर ही इस वेचारे प्राणी को हस्तगत कर लेता है तो मैं इसकी प्रतीक्षा कैसे करूं? नही, मैं अभी संयम मार्ग को निष्कण्टक वनाऊँ यह निर्णय कर उसी समय पुनः मुड़ा और सुधर्मा स्वामी के पास जाकर संयम के साक्षी रूप ब्रह्मचर्य व्रत को जीवन पर्यन्त स्वीकार किया। उसी दिन से मैं सच्चारित्र रत्न की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित हो रहा हूँ। सखे! तुमने जो प्रव्रज्या के कष्टों को स्पस्ट करते हुए उनके सहने मे मेरे कोमल शरीर की असहिष्णुता प्रदर्शित की थी, किन्तु क्या संसारी जीवों के कष्ट थोड़े हैं? क्या अनेक ऋद्धिशाली मनुष्य भी नाना प्रकार के रोगो की भट्ठी में चनो की भाति नही भूने जाते। क्या धन की भावना से पराजित मनुष्य दु.सह तिरस्कार के भाजन नही होते? क्या मनुष्य कौटुम्बिक कलह की अग्नि से संतप्त अन्दर ही अन्दर नही रोते? क्या दुर्दम दरिद्रता के दाह से जलने वाले अनेक व्यक्ति नही देखे जाते? परन्तु वहाँ क्लेश का अभिनिवेश है और यहाँ परम आनन्द का उदय है। वहा मुख कुम्हला जाता है, यहाँ वह फूल की तरह विकस्वर हो जाता है। वहाँ मानसिक चिन्ता की अधिकता है, यहाँ शान्ति का साम्राज्य है। वहाँ दूसरो का अत्यन्त तिरस्कार है, यहाँ सभी व्यक्तियों का हार्दिक सत्कार है। वहा अधःपतन का अवसर आता है, यहाँ उत्थान की वेला रहती है। क्या तुमने त्याग और भोग का अन्तर जान लिया? तुमने जो कहा कि साधुपन पीड़ित-

---

उन्मनाः, इति हेमचन्द्रः) १२. अकर्कशवर्ष्मण-कोमलवपुष., (वपुः पुद्गल वर्ष्मणी, इति हेमचन्द्र.) १३ कष्टानि १४ विविध-भयङ्कररोगभ्राष्ट्रे (भ्राष्ट्रोम्वरीपऋचिषः, इति हेमचन्द्र·) "भाड" इति भाषायाम् १५. चणक समकक्षताम् १६. अन्तर्वाष्पम्-अश्रुयेषा ते, १७. आधेः-मानसिक-व्यथायाः, (स्यादाधिर्मानसी व्यथा, इति हेमचन्द्र.) १८. लज्जितानाम्।

✶ | तृतीयः प्रकाशः

विभवोपार्जनहेतोः कतिचन जनाः संभूय[1] स्व नगरात् प्रतस्थिरे। मिथः स्वैरमालपन्तो[2] व्रज्यां[3] विदधाना अखेदमध्वानं छिन्दाना अन्येद्युरेकां भयावहामरण्यानीं निविशमाना इतरेतरं व्याजह्रिरे[4]— भो! इदं महारण्य सिंहव्याघ्रव्यालादिहिंस्रसत्वसनाथं नृशंसदस्युसंदोहसंसेवितं यमराजराजधानीनिभमागतमस्ति, अतः सर्वैरपि स्वस्वरक्षादक्षैर्भाव्यम्। न ज्ञायते कदा किमाकस्मिकं भयं समुद्भवेत्? समेऽपि सावधानीभूय वेपमानस्वान्तास्तत्कान्तार[5] कथंकथमपि तीरयितु[6]मन्तर्विगाहन्ते स्म[7]। ईषदुल्लङ्घितेऽध्वनि विटपिनां घटा समागता। अनभ्राभ्रविराजमानेऽपि[8] सहस्रांशौ दुर्दिवसवत्तमोबाहुल्यं[9] विलोक्यते तत्र। संकटायां[10]पद्धतावनुमानप्रामाण्येनैव जङ्गम्यमानांस्तान्[11] रुरुत्सव[12] इव कण्टकिनो द्रुमाः सिचयाञ्चलान्याकृष्याऽऽकृष्य[13] प्रतिपदमरौत्सुः[14]। कुत्रचिदुपत्यकाऽधित्यकाभिर्विराजमाना वमत्सौरभसुमसंदोहसुन्दरा ससीकरशीतलसमीरसमीरिता[15] स्थपुटा[16] पार्वती[17] पृथ्वी तेषां स्वेदापनयनं चकार! अहो! प्राकृतिकमनुप्तमुद्यानमिव[18] शोभमानमिदं नास्ति किं प्रकृतिदर्शनदर्पणम्?

---

१. एकत्रीभूय २. स्वेच्छया ३. पर्यटनम् ४. व्याहरन्तिस्म ५. कम्पमानान्तःकरणाः ६. पारयितुम् ७. प्रविशन्ति स्म (प्रवेशोऽन्तर्विगाहनमिति, हेमचन्द्रः) ८. अनभ्राभ्रविराजमाने = न अभ्रं अनभ्रम्, अवार्दलम् तादृशमभ्रम्-आकाशं तस्मिन् विराजमाने-शोभमाने ९. दुर्दिनं-मेघजं तम स्तद्वत् १०. 'संकडी पगडंडी मे" इति भाषायाम् ११. कुटिलं गच्छतः, ("गत्यर्थाद् भावस्य

★ तीसरा प्रकाश

● मधुबिन्दु का दृष्टान्त 

कई व्यक्ति एकत्रित होकर धन कमाने के लिए अपने नगर से दूर देश की ओर प्रस्तुत हुए। वे परस्पर बातें करते चले जा रहे थे। मार्ग आनन्द से कट रहा था। एक दिन वे भयंकर अटवी में जा पहुँचे। प्रवेश के पूर्व उन्होंने एक दूसरों से कहा—"साथियो, यह महारण्य सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि हिंसक जीवों से व्याप्त है। यह नृशंस चोरों का वास स्थान है। यह यमराजपुरी के सदृश है। अतः हमें अपनी-अपनी रक्षा के लिए सावधान रहना चाहिए, क्योंकि न जाने कब, क्या आकस्मिक भय उत्पन्न हो जाए।" सभी सावधान होकर धड़कते हुए हृदय से उस अरण्य को ज्यों-त्यों पार करने के लिए प्रविष्ट हुए। थोड़ी दूर चल पाना भी अत्यन्त दुष्कर था। मार्ग मिलना कठिन था। आकाश में बादल नहीं थे। सूर्य चमक रहा था, फिर भी वहाँ अत्यन्त अंधकार था। संकरी पगडंडियों पर वे अनुमान से चले जा रहे थे। काँटे वाले वृक्ष उनके पल्लों को खींच-खींच कर पग-पग पर रोक रहे थे। कहीं भूमि ऊँची थी, कहीं नीची। सुवासित फूलों से सुन्दर तथा जल कणों से शीतल पवन से समीरित निम्नोन्नत पर्वत की भूमि पथिकों का स्वेदापनयन कर रही थी। क्या यह अनुप्त प्राकृतिक उद्यान प्रकृति-दर्शन

कौटिल्ये" इतियड्) १२. रोद्धुमिच्छवः १३. सिचयाञ्चलानि=वस्त्र प्रान्तानि १४. अरोत्सुः=रुन्धन्ति स्म १५. सीकर.'वाताक्षिप्ताऽम्बुकण, तेन सह वर्तते इति ससीकरः, स सीकरश्चासौ शीतलसमीरश्च-ससीकरशीतल समीरः, तेन समीरिता-प्रेरिता १६. विषमोन्नता, (स्थपुटं विषमोन्नतमिति, हेमचन्द्रः) १७. पर्वतमयी १८. वपनरहितम्।

चलाचलस्वभावमपि चेतोऽत्र चाञ्चल्यमुत्सार्य किं न स्थास्नु भवेत् ? चिरकालिकतप.साध्यः समाधिः किं नात्र सुखसाध्यः ? हा ! हा ! किं वयं कोलहलाकुलमनेकाधिव्याधिमयं नागरिकं जीवनं प्रशंसामः ? किमस्य तुलनायां तत् तोलयितुं शक्यते जातुचिद् ? किं यदा मानवोऽपि वार्क्षमूलिको[1] जाङ्गलिकश्चासीत् तदा किं नैतादृक् सुखभोगयोग्योऽभवत् ? समागतायामस्यां सभ्यतायां किं प्रकृतेर्विनाशो नाकारि मेधाविसंस्थुलेनाऽनेन[2]। अहा ! अत्रस्था वृक्षास्तु भृशमाकारयन्तीवास्मान् शाखाग्रै., स्वागतमपि च्छायाप्रदानैश्चारुपुष्पफलोपढौकनैः कुर्वन्तीव च विलोक्यन्ते; किं सभ्यताभितप्ता वयं सत्कारयामो गृहागतानतिथीन् ? विलसति किमीदृक् प्रेमास्माकमन्तःकरणे। अहो ! अनायासमस्मादृक्षान् पान्थानाकर्षन्ती पुष्पावलिमखेदयन्तोऽस्याः सकाशान् मधुरमकरन्दमासादयन्तो मञ्जुगुञ्जारवव्याजेन स्वकृतज्ञतां प्रादुश्चिकीर्षन्त इव नोन्मत्ताः किं मिलिन्दवृन्दा[3] वम्भ्रम्यमाणाः सन्ति। उत[4] सत्र[5]सेविभिर्महर्षिभिरप्यक्लमा माधुकरी वृत्तिरमीभ्यः सकाशादेव प्रथमं शिक्षिता ? क्वचित् शैलमध्यादस्खलितधारया निपपन्तं हिमकरकरवलक्षं[6] निर्झरं प्रेक्ष्य स्वर्गापगाचित्रं[7] चित्रयति तेषां मानसम्। हन्त ! वहोः कालात् पातुकोऽपि न कथं विश्रान्तिमाकाङ्क्षति ? तन्मयतया हि स्वकीयं कृत्यमेकरूपं संचालयति, किमस्ति कर्मठताऽस्मास्वपीदृशी ? वयं तु हस्तयित्वापि किमपि कार्यं स्तोकविघ्ननिघ्ना[8]स्तत एकपदे विरिरंसामहे। प्रकृते ! तवान्तरतत्त्वमीमांसाया शून्यमनस्कता जायते, न ज्ञायते कियद् गौरवं विभर्षि[9] त्वम् ? प्रतिपरमाणु तवाद्भुतच्छविरुच्छलति, अनेके दार्शनिकाः कवयो महर्ष.यस्त्वामनुसदधाना स्तवालौकिकं हार्दं जिज्ञासमानाः स्वजीवनं पूरयामासुः, परन्तु तव रहस्यं नहि कैरपि साकल्येनावसितम्[10], अवसितं च येन केनाप्यशेपज्ञेन तेनापि नहि कथितु पारितम्। वतवतास्य स्रोतसो द्वारि कोऽपि सिस्नासुः पिपासुश्चिक्रीडिपुस्तितीर्पुर्धनाढ्यो दरिद्रो वा, ग्राम्यो नागरिको वा, देशीय· पर-

---

१. वृक्षमूले वसतीति वार्क्षमूलिकः २. वृथा बुद्धिभारं वहमानेन
३. भ्रमरसमूहाः ४. 'उत' इति वितर्के ५. सत्रसेविभिः=अरण्यमेविभि.

का दर्पण नही है ? चञ्चल चित्त भी क्या यहाँ अपनी चञ्चलता को छोड़कर स्थिर नही हो जाता ? चिरकालिक तपस्या से साध्य समाधि क्या यहाँ सुख-साध्य नहीं हो जाती ? फिर भी हम कोलाहल से आकुल तथा अनेक आधि-व्याधिमय नागरिक जीवन की प्रशंसा क्यो करते हैं ? क्या इसकी तुलना मे वह जीवन कभी तुल सकता है ? जब मनुष्य वृक्षों के मूल मे रहता था, जब वह जंगलवासी था, तब क्या वह इस प्रकार के सुखो का भोग करने मे समर्थ नही था ? इस सभ्यता के आने पर क्या बुद्धि के अहं ने प्रकृति का विनाश नही किया ? ओह ! यहाँ के वृक्ष अपनी शाखाओं के मिष से हमे बुला रहे है और छाया, पुष्प, फल आदि से हमे उपकृत कर हमारा स्वागत करते हुए दीखते हैं।

सभ्यता से अभितप्त क्या हम घर पर आए हुए अतिथि का सत्कार करते हैं ? क्या हमारे अन्तःकरण में ऐसा प्रेम है ? यहाँ की पुष्पावली जो हमें अनायास ही खींच लेती है, उसको खिन्न नहीं करते हुए इनसे मधुर मकरन्द लेते हुए, मञ्जु गुंजारव के बहाने से अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए, क्या भ्रमरो के समूह उन्मत्त होकर नही घूम रहे है ? क्या वनवासी महर्षियो ने इस अक्लान्त माधुकरी वृत्ति की प्रथम शिक्षा इन्ही से पाई थी ? क्वचित् पर्वत के मध्य से अस्खलित धारा से नीचे पड़ते हुए चन्द्रमा की किरणों के समान सफेद निर्झर को देखकर उनके मन मे गंगा का चित्र खिंच जाता है ? लम्बे काल से गिरने वाला भी यह निर्झर विश्राम करना क्यो नही चाहता ? तन्मयता से ही यह निर्झर अपने कार्य का एकरूपता से संचालन कर रहा है क्या हमारे मे भी ऐसी कर्मठता है ? हम एक कार्य को हस्तगत करके भी थोड़े से विघ्नो से ही सहसा उससे विरत हो जाते है। हे प्रकृति ! तुम्हारे अन्तस्तत्त्व की मीमासा करने पर शून्य मनस्कता होती है। न जाने तेरे मे कितना गौरव अन्तर्निहित है। प्रत्येक परमाणु मे तेरी अद्भुत शोभा उछल रही है। अनेक दार्शनिक- कवि और ऋषि तुम्हारे अलौकिक हार्द की जिज्ञासा से तुम्हारा अनुसन्धान करते करते अपना जीवन पूरा कर देते हैं। परन्तु तेरे रहस्य को किसी ने भी पूर्ण रूप से नही जाना। किसी विशिष्ट (पूर्ण) ज्ञानी ने उसे जाना भी तो वह उसका वर्णन करने मे असमर्थ

(अरण्यमटवीसत्रमिति, हेमचन्द्रः) ६. चन्द्रकिरणवद् धवलम् ७. गङ्गाचित्रम्
८. विघ्ननिघ्ना=विघ्नपरवशा ९. वारयसि १० सम्पूर्णतया ज्ञातम्।

देशीयो वा, दुर्जनः सज्जनो वा समागच्छतु, गृह्णातु यथाशक्ति जीवनलाभम्[१] अभेददृशा नहि विमुखयति तिरस्करोति कमपि, अत्र तु श्वापदानामपि[२] तुल्योऽधिकारः, किमेषा न महनीया महत्ता ? अहा ! कदा भाविनी ईदृगभेददृगस्मादृशाम् ?

इत्थमनल्पविकल्पदोलामारूढास्ते गहनगहन प्रविष्टास्तावत् कर्णजाह[३] भिन्दानं भीषणभीषणं चीत्कारशब्दमाकर्णयामासुः। हा ! हा ! किमिदमतर्कितमरिष्टं समुत्पेदे ! किं कोऽपि दैत्यः, करालो व्यालो[४] महानादो[५] वाऽस्मान् भक्षयितु मारयितु वा कृताह्लादोऽस्ति ? हन्त ! हन्त ! निर्घोषे कीदृक्षा वर्बरता वर्वर्ति ? पतद्ह्लादिनी-[६] निर्ह्लादमपि ह्रेपयति[७], शैलिभेदि कुलिशनिःस्वानमपि[८] च निःसत्त्वीकरात्यसौ। अरे ! शब्दस्तु विवृद्धिमागच्छन् नः समीपमागच्छतीत्यनुभूयते। हा ! हा ! समागतं मरणम्, त्रायस्व-त्रायस्व भगवन् ! मृता वय तु। अये अम्व ! रक्ष रक्ष वालकान्। हा ! किं कुर्मः, क्व यामो नावसातु[९]शक्यते ? दृशोः पुरतस्तु रक्तपीतादिरागाः कृतोपरागा[१] विद्यन्ते। इतस्तु घोरघनाघनमपि स्पर्धयन्त अञ्जनगिरिसन्निभ शुण्डादण्डमुल्लालयन्तं व्यालमेक भयद्रुताभ्यां दृग्भ्यां ददृशुः।

हा ! हन्त ! हन्त ! आयत्यसौ-आयत्यसौ कालरूपो व्यालः। अयमेव चीत्कारकारी, पलायन्तां-पलायन्तामित्याम्रेडयन्तस्ते एकपदे स्व-स्वरक्षादक्षां भिन्नभिन्नामाशामुद्दिश्य परानपेक्ष पलायाञ्चक्रिरे। कोऽपिकन्दरं मन्दिरीकुर्वाणः, कश्चिच्छैलशृङ्गं शरणं मन्वानः, कश्चित्

---

१. पानीयलाभम् जीवनानन्दं वा २. हिंस्र-पशूनाम् ३. कर्णमूलम्
४. व्यालः—दुष्टगजः ५. महानादः—सिंहः ६. पतद्विद्युच्छब्दमपि

ही रहा। इसके स्रोत पर कोई भी चाहे, वह स्नान करने का इच्छुक हो, पिपासु हो, क्रीड़ा करने का इच्छुक हो, तैरने का इच्छुक हो, धनवान हो, या दरिद्र हो, ग्राम्यजन हो या नागरिक हो, देशवासी हो या परदेशवासी हो, दुर्जन हो, या सज्जन हो यहाँ आए और यथाशक्ति पानी का उपयोग करे। अभेद दृष्टि से यह निर्झर न किसी को विमुख करता है और न किसी का तिरस्कार करता है। यहाँ पर तो हिंस्र पशुओ का भी समान अधिकार है। क्या यह महनीय महत्ता नही है ? अहो ! हमारे मे यह अभेद दृष्टि कैसे पनपेगी ?

इस प्रकार अनेक विकल्प करते हुए वे गहन अटवी मे प्रविष्ट हुए। इतने में ही कर्ण-भेदी भीषण चीत्कार का शब्द उनके कानो मे पडा। हा हा ! यह क्या आकस्मिक उपद्रव उत्पन्न हो गया ? क्या कोई दैत्य या भयानक दुष्ट-गज या सिंह हमारा भक्षण करने के लिए अथवा मारने के लिए आल्हादित हो रहा है ? हन्त ! हन्त ! इस शब्द मे कितनी बर्बरता है ? यह शब्द गिरने वाली बिजली के शब्द को भी फीका कर देता है। यह पर्वतो को भेदने वाले वज्र के शब्द को भी निःसत्व बना देता है। अरे ! यह शब्द तो बढ रहा है और ऐसा अनुभव हो रहा है कि वह हमारे समीप ही आ रहा है।

हा, हा ! मृत्यु आ गई। भगवन् ! रक्षा करें, रक्षा करें। हम मर गये। हे माता ! बालकों को बचाओ-बचाओ। कहाँ जाएँ ! कुछ भी निश्चय करने मे असमर्थ है। आँखें धुँधला रही हैं, आँखो के आगे दीखने वाले लाल-पीले रंग उपद्रव कर रहे हैं। इतने मे उन्होने अञ्जनगिरि के सदृश कृष्णवर्ण वाले दुष्ट गज को भयभीत आँखो से देखा। वह अपनी शूण्ड को ऊँची-नीची करता हुआ आ रहा था।

'हा ! हन्त ! हन्त ! यह काल-रूप व्याल आ रहा है, आ रहा है।' यही चीत्कार कर रहा था। 'दौड़ो, दौड़ो'—इस प्रकार बार-बार कहते हुए अपनी-अपनी रक्षा के लिए दूसरो की अपेक्षा न करते हुए सहसा वे सभी भिन्न-भिन्न दिशाओ मे दौड गये। कोई गुहा मे जा बैठा, कोई गड्ढे मे चला गया;

(ह्लादिनी जलवालिका इति हेमचन्द्रः) ७. ह्रेपयति-लज्जयति ८. वज्र-शब्दमपि ९. न ज्ञातुम् १०. कृतोपद्रवाः, (उपराग उप्लवः इति हेमचन्द्रः।

कुडङ्गे[१] स्वसत्तां गोपायन्, इतरोऽखातं[२] त्रातं जानानः, परो गर्त्तामनर्तिमयी निध्यायन्, अन्यः शाखिशाखायां प्लवङ्गमपरिवारश्च तस्थौ। धावमानेषु सर्वेष्वप्येको मन्दभाग्यः शीतको नरोऽवेदि गम्भीरवेदिना[३]। तदानीमेव स तु परान् दीर्घजीविनो मन्यमान इव तमेव लक्ष्यीकृत्य स्वगतिं परिववृते। पूर्णश्वासोच्छ्वासवेगमग्रतस्तु स बद्धमुष्टिर्मर्त्योधावति, पश्चात् सोत्फालैः पद्भिश्चङ्क्रम्यमाणः स दुष्टगजः। किं द्विपदचतुष्पदयोर्धावनस्पर्धा तु न जाजायतेऽत्र? स्वसत्तया विस्मार्यमाण इव, द्विपादपि सहस्रपादिवाऽरार्यमाणः[४], भूमिं स्पृशन्नपि विहायसोड्डीयमान इव अग्रे किमस्तीत्यनालोकमानः, ललाटपट्टलम्बमानैः प्रस्वेदबिन्दुभिः क्षोणीं[५] स्नपयमानः, धमनिकावेगैरानपानैः[६] सोद्वेगमाध्मायमानः, वटवृक्षाधस्तने मरकतसदृश[७]सान्द्रबालार्जुनाऽऽस्तृते नातिदूरादपि समभूभागभ्रान्तिं बिभ्राणे कूपे बालैः क्रीडाकाष्टेनाहतो गेन्दुक इव पतनोन्मुखो बभूव। यावन्तो जीवनक्षणा उर्वरिता[८] भवेयुस्तावत्काल कल्पान्तकम्पाङ्ककम्पितोऽपि जीवप्रदीपो नहि निर्वाणो भवेत्। पतत्पतता हि तेनोदपानान्तराले[९] लम्बायमानाः स्वजीवनरज्जुकल्पा वटशाखा द्वाभ्यामूर्ध्वीकृताभ्यां कराभ्यामनायासमग्राहिषत। हन्त ! किमद्यापि ह्यायुषोऽशोऽवशिष्टः ? मुहूर्त्तान्तरे किञ्चन विचारचाराहों भूत्वा स व्यचिन्तयत्—"किमहं जीवितोऽस्मि वा मृतः ? किं प्रचलायितोऽस्मि वा जागरूक. ? कथमहं वेपमानवपुः[१०]? कथं धगद्धगिति कुर्वाणा मे हृद्गतिः ?" इत्थमनल्पमन्तर्जल्पं विदधानो लब्धचेतनः पूर्वं वृत्तान्तं सम्यक् सस्मार। अहो ! मरणेनापि घुणाक्षरन्यायेन दत्तं मे शरणम्। स मत्तमातङ्गो ममोपरिष्टात् तु न पतिष्यति ?

प्रभव —ततस्ततः किमभूत् ?

---

१ लतागृहे, (कुञ्ज-निकुञ्ज-कुडङ्गा, इति हेमचन्द्र) २. अखातम्-देवखातम्, "अकृत्रिमगर्तमित्यर्थः" ३. दुष्टगजेन ४, अरार्यमाणः=अतिशयेन धावमानः ५ पृथ्वीम् ६ आनपानैः=श्वासोच्छ्वासैः ७. "पन्ना के समान

कोई पहाड़ की चोटी पर चढ़ गया ; कोई निकुञ्ज मे जा छुपा ; कोई खाई में जा बैठा; कोई वन्दर की भाँति वृक्ष की डाली पर जा लटका ; इस प्रकार दौड़-धूप करने वाले व्यक्तियो मे से हाथी ने एक व्यक्ति को देखा जो मन्दभाग्य और आलसी था। उसी समय मानो दूसरो को दीर्घजीवी मानता हुआ वह हाथी उस व्यक्ति को लक्ष्य वना, अपनी गति को मोड़, उसकी ओर चल पड़ा। अत्यन्त तीव्र गति से हाफता हुआ वह मनुष्य मुट्ठी को बांधकर आगे दौड़ रहा था और उसके पीछे फादता हुआ दुष्टगज दौड रहा था। लगता था कि क्या दो पैर वाले और चार पैर वाले की दौड तो नही हो रही है ? अपने अस्तित्व को भुलाता हुआ, दो पैर वाला भी सहस्र पैर वाले की तरह दौड़ता हुआ, भूमि को स्पर्श करता हुआ भी, मानो आकाश मे उड़ता हुआ, आगे क्या है यह नही देखता हुआ, ललाट पट्ट से गिरते हुए पसीने की बून्दो से पृथ्वी को भिगोता हुआ, धोकनी की तरह श्वासोच्छ्वास के वेग से हांफता हुआ, वट वृक्ष के नीचे पन्ने के समान हरे गहरे लघु तृणों से व्याप्त, समीप से भी सम भूभाग की भ्रान्ति वाले कुँए मे वालको द्वारा डण्डे से आहत गेन्द की तरह गिरने लगा। जव जितने जीवन क्षण शेष रहते हैं, तव तक प्रलय के पवन से कम्पित भी जीवन प्रदीप नही बुझता। गिरते, गिरते भी उसने कुएँ के अन्दर अपने जीवन-रज्जु के सदृश लम्वायमान वट-शाखा को ऊँचे किये हुए दोनो हाथों से अनायास ही पकड लिया। हन्त ! क्या अव भी आयुष्य के अंश अवशिष्ट हैं ? मुहूर्त के वाद विचार करने योग्य होकर उसने सोचा—क्या मैं जीवित हूँ या मृत ? क्या मैं सोया हुआ हूँ या जागृत ? मेरा शरीर क्यो काप रहा है ? मेरे हृदय की गति धग्-धग् क्यो कर रही है ? इस प्रकार वह मन ही मन सोच रहा था। उसे पूर्व वृत्तान्त याद हो गया। अहो ! मृत्यु ने भी मुझे घुणाक्षर न्याय से शरण दे दिया है ? यह मत्त हाथी मेरे ऊपर तो नही गिरेगा ?

प्रभव ने कहा—फिर क्या हुआ ?

हरे गहरे लघु तृणों से व्याप्त" इति भाषायाम् ८. अवशिष्टा ९. कूपान्तराले, (कूपः स्यादुदपानोऽन्धुरिति हेमचन्द्रः) १०. कम्पमानशरीरः।

जम्बू—अदृश्यमान स्वकीयमाखेटकमालोक्य[१] विवृद्धमन्यु[२]र्मत्तवारण[३]स्तदनुपदं चचाल। स्ववर्णस्पर्धयेव मुदिरान्[४] विदिदीर्षु रिव[५] शुण्डादण्डमुत्क्षिपन्, क्षितिं चिखनिषुरिव[६] ता पादघातैस्ताडयन्, चीत्काररावैः पिशाच इव च विभीषकामुत्पादयन्, कूपोपकण्ठमाससाद। रज्जुनिबद्धघटमिव कूपे लम्बायमानं स्ववध्यं समालोक्य गृहीतहठः शठः करटी[७] कथमिव तं जिघृक्षुः स्वकीयं करं पौनःपुन्येनान्धुमध्ये[८] क्षिपति, परन्तु तनुकमन्तरं तच्चिकीर्षिते प्रत्यूह[९] मातनोति। प्राप्तनैष्फल्योऽप्यत्यर्थं प्रलम्बीकुर्वत्करस्त गृहीतुमशक्नुवन्नपि कोपारुणितनेत्रो भृशं चेष्टते मारयितुम्। स बलवत् कम्पमानस्वान्तः पान्थो हा! मामयं मत्तस्तम्बेरमो मारयिष्यत्येवेति मम्मन्यमान ईषदधस्ताद् भवामीति निम्नोदपानभागं यावद् विलोकते तावत्तत्र स्फारिताननौ महाकायौ भयङ्करावजगरौ तं जिगिलिषत्तिष्ठतः[१०]। हन्त! नाद्यावधि दुःखानामियत्ता? दैव! स्वयं म्रियमाणं किमु मिमारयिषसि? अन्धकूपे भवन्ति नाम बहूनि विशालरन्ध्राणीति तत्र प्रविविक्षुर्यावत्समन्तोऽन्वेषयति तावत् परितश्चतुर्षु रन्ध्रेषु चतुरउत्फणान् फूत्कारभीषणान् सरीसृपान्[११] निभालयामास। स्वागतम् सुस्वागतमायान्तु नूनमत्रैव सर्वा अप्यापदः सम्मेलनं कर्त्तुम्, अस्ति विजनमेतदेव पदम्[१२]। कश्चिद् दर्व्वीकरो[१३] मां न दशेदिति सभीः[१४] स स्वपाणिपादमतीव संकोच्य दृढं शाखां संगृह्य करुणं पर्यदेविष्ट[१५]। तावत् कर्णकटुकः कटत्कटेतिरावोऽजनि कर्णकुटुम्बी। किं किमिति पर्यन्वेषयन् यावदुपरिष्टान्निध्यायति तावद् सितासितौ द्वौ वज्रदशनौ[१६] करपत्रकभेदं[१७] भिन्दानौ स्वावलम्बितां शाखां दृष्टौ। आः! कथं युवाभ्यामित्थं त्वर्यते! श्वसित्ययं मन्दभाग्यः क्षणमिति नहि सह्यते भवद्भ्याम्! किं निष्कास्यमस्यां यत् समग्रेण शारीरिकसामर्थ्येन प्रयत्यते, कर्त्तन-

---

१. आखेटकम्=वध्यम् २. विवृद्धमन्यु=विवृद्धो मन्युः-क्रोधो यस्य सः ३. मत्तवारणः=उन्मत्तगजः ४ मेघान् ५ विदारितुमिच्छुः ६ खनितुमिच्छुः ७. करी ८. अन्धुमध्ये=कूपान्तराले ९. विघ्नम् १०. जिगिलिषु-गिलितुमिच्छु ११. सर्पान् १२. पदम्=स्थानम् १३ सर्पः १४ भिया

जम्बू ने कहा —"अति कोपातुर होकर वह मत्त हाथी अपने अहश्यमान शिकार को देखकर उसके पीछे-पीछे चला। अपने वर्ण की स्पर्द्धा से वादलो को चीरने वाले की तरह भूमि पर अपनी शूंड को ऊँची उछालता हुआ, भूमि को खोदने वाले की तरह उसे पैरो से आहत करता हुआ, पिशाच की तरह चीत्कार के शब्दो से भय उत्पन्न करता हुआ, वह हाथी कुँए के पास आया। रस्सो से वंधे हुए घड़े की तरह कुँए मे लटक रहे अपने वध्य को देखकर वह हठीला शठ हाथी ज्यो का त्यो उसको पकड़ने की इच्छा से अपनी शूण्ड को वार-वार कुएँ मे डाल रहा था, किन्तु थोड़े-से अन्तर से उसके यथेष्ट कार्य मे वाधा उत्पन्न हो रही थी। निष्फल होने पर भी अपनी शूण्ड को लम्वी करता हुआ, उसे पाने मे असमर्थ होने पर भी—कोपारुण होकर उसे मारने की चेप्टा कर रहा था। अत्यन्त कम्पित हृदय वाला वह पथिक—'हा! यह मत्त मतंग मुझे मारेगा'—यह मानते हुए, मैं कुछ और नीचे हो जाऊँ, यह सोच कर जव वह कुँए के नीचे के भाग को देखता है तव उसने देखा कि एक महाकाय भयंकर अजगर मुँह वायें उसे निगलने के लिए तैयार खड़ा है। 'हन्त! अव तक दुःख की सीमा नही हुई? भाग्य स्वयं मरने वाले को तू क्यों मारने की इच्छा कर रहा है?' अन्धकूप मे अनेक विशाल रन्ध्र (विल) होते है। उनमें प्रवेश करने के लिए वह चारो ओर अन्वेपण करता है तव उसने चार रन्ध्रो मे ऊँचे फण किये हुए भीषण फुत्कार करने वाले चार सर्पो को देखा। स्वागत है, स्वागत है, यही सारी आपदायें सम्मेलन करने के लिए आएँ? यही स्थान एकान्त है। कोई साप मुझे डस न ले। इस प्रकार के भय से वह अपने हाथ पैरो को अत्यन्त संकुचित कर, शाखा को दृढता से पकड़ कर रोने लगा। तभी कट, कट, ऐसा शब्द उसे सुनाई दिया।"

"क्या है, क्या है, इसकी अन्वेपणा करते हुए जव उसने ऊपर देखा तव उसे लगा कि दो चूहे एक काला और एक सफेद उस शाखा को करोत की तरह काट रहे हैं। उसने कहा—'चूहो! तुम इतनी जल्दी क्यों कर रहे हो; मैं क्षण भर जी रहा हूँ—यह भी तुम सहन नही कर सकते? तुम्हे इसमे क्या

सहितम्, सभीः १५. विललाप १६. मूपकौ, (मूषिको मूपको वज्रदशनः खनकोन्दुरौ, इति हेमचन्द्र.) १७. क्रकचभे दंभिन्दानौ, (क्रकचं करपत्रकमिति हेमचन्द्रः) "करोत" इति भापायाम्।

कर्मण्यहंपूर्विका तु नादृता ! किमनयाऽऽहोपुरुषिकया[१] वा मद्घात-पातकमन्तरेण प्राप्तव्यं चान्यत् !

इतो मत्तवारणः स्वकोपवारणसाधनभूतमेतमविन्दमानो[२] भृशमनानन्दितो ऽनेन पापदर्पेणैव मदीयद्विषते[३] शरणमदायीत्यत एनमपि समूलमुन्मूलयामीति निर्धार्य किञ्चिदवटतटादपसृत्य[४] स्वशुण्डादण्डेन दन्तमुसलाभ्यां च विष्टर[५]—प्रकाण्डं पूर्णस्थाम्ना[६] धूनयितु लग्नः। मूलमुत्पाटयितुमप्रभुरपि किमुतकम्पमानेन[७] कुटेन[८] कम्पयामास कुलायसंस्थिता[९]नऽगौकस[१०]स्तदन्त.करणेन सार्धम् । केचित् कोकूयमानाः पतगा उड्डयितुं लग्नाः। केषाञ्चिदजातपक्षाः पोता भूभागमशिश्रियन् । तस्य शाखिन औपरिष्टमेकं[११] सरघागृहमासीत्[१२]। तेन गर्जितेन गजेन[१३]कम्पिते विटपिनि सर्वास्ता सरघा उड्डिडयिरे, मध्वपि श्च्योतितुं लग्नम् । स्वसंचितमधुपातात् कोपकम्प्रा मधुमक्षिका इतस्ततः पर्यटन्त्य एतं शाखा-ग्राहिणमपराधिनं मन्यमाना इवैकपदे तच्छरीरं दंष्टु प्रवृत्ताः । परःसहस्रायससूच्यग्रभेदातिरिक्तां भीषणभीषणां वेदनां प्राप्य ता दूरयितुमप्रभूष्णुः[१४] हा ! मृतोऽस्मि हतोऽस्मीति करुणं विललाप। तदानीमेव तत् क्षरन्मधु तदुन्मुखे[१५]-मुखे भालतलमस्पृशदिवाधरसङ्गि समजनि । किमिति लोलुभा जिह्वा झगिति तल्लिलिहे । अहह ! कियन् मधुर किं स्वर्गादमृतं क्षरति ? पश्यत्युन्मुखीभूय सरघासद्मसकाशात् क्षरन् माक्षिकम् । व्यस्मारि सर्वमपि व्यसनं[१६] मातृमुखेन।[१७] वियद्[१८] विशालामाशामासेवमानेन व्यचिन्ति—' दैव ! अचिन्त्यस्तव महिमा, अलपनीया ते लीला, अकलयितव्या च ते कलना। नरो यत् कल्पयितुमप्यप्रभुस्तत्त्वं

---

१. आत्मनि या दर्पात् संभावना सा आहोपुरुषिका, तया
२. अविन्दमानः=अलभमान. ३. मम शत्रवे ४. कूपतटात् ५. वृक्षश्रेष्ठम्, प्रकाण्डादिशब्दा विशिष्टार्थद्योतकाः, यथा-मचर्चिका मतल्लिका प्रकाण्डमुद्ध तल्लजौ इत्यमरः ६. पूर्णबलेन ७. अतीव, (किमुताऽतीवनिर्भरे, इति हेमचन्द्रः) ८. वृक्षेन ९. नीडसंस्थितान् १०. अगौकसः=पक्षिणः ११. उपरिष्टाद्

मिलेगा कि समस्त शारीरिक सामर्थ्य से तुम प्रयत्न कर रहे हो ? काटने की इस क्रिया में तुम्हारे बीच होड़ तो नहीं लगी है ? क्या इस अहंभावना से मेरे घात के पाप के सिवाय कुछ और भी प्राप्तव्य है ?

इधर मत्त हाथी अपने कोप के निवारण का साधनभूत उस व्यक्ति को नही पाता हुआ अत्यन्त खिन्न हो रहा था। इस वृक्ष ने ही मेरे शत्रु को शरण दी है—'इसलिये मैं इसे भी जड़ से उखाड़ दूं' यह निश्चय कर हाथी कुएं से कुछ दूर हट कर अपनी शुण्ड से तथा दोनो दांतों से वृक्ष के तने को हिलाने लगा। मूल को उखाड़ने मे असमर्थ हाथी वृक्ष को जोर से हिला रहा था। कम्पित होते हुए वृक्ष के साथ ही साथ नीड मे अवस्थित पक्षी कम्पित हो उठे और उनका अन्तःकरण डोल उठा। कई पक्षी जोर-जोर से चिल्लाते हुए उड़ गए, कई पक्षियो के छोटे बच्चे, जिनके अभी पाखे नही आई थी। जमीन पर जा गिरे। उस वृक्ष के ऊपर मधुमक्खियों का एक छाता था। उस चीत्कार करते हुए हाथी के द्वारा कम्पित होने से उस वृक्ष से सभी मधु मक्खियां उड़ गईं और मधु भी नीचे चू पड़ा। अपने संचित मधु के पात से मधु मक्खियां कोपाकुल हो गईं। इधर उधर घूमती हुई शाखा को पकडे हुए व्यक्ति को इस कार्य के लिए अपराधी मान कर उसके शरीर को काटने लगी। लोहे की हजारों सूइयो के छेद से भी अत्यन्त भीषण वेदना को पाकर, उसको मिटाने मे असमर्थ होता हुआ वह मैं मरा, मैं मारा गया,' इस प्रकार करुण-विलाप कर रहा था। उसी समय ऊपर से गिरते हुए मधु की एक बूंद मुंह मे आ पड़ी। 'यह क्या है'—यह जानने के लिए लोलुप जीभ ने उसे चाट लिया। अहो ! कितना मीठा है ? क्या स्वर्ग से अमृत झर रहा है ? उसने ऊपर मधु मक्षिका के छाते से झरते हुए मधु को देखा। वह मूर्ख सारा दुःख भूल गया। आकाश जितनी विशाल आशा को लिए उसने सोचा—

भवं औपरिष्टम् १२. मधुमक्षिका गृहम्, (सरघा मधुमक्षिका, इति हेमचन्द्रः) १३. उन्मत्तेन, (मत्ते प्रभिन्नगर्जितौ, इति हेमचन्द्रः) १४. असमर्थः १५. तस्य ऊर्ध्वीभूते मुखे १६. दुःखम् १७. जडेन (मूढो मन्दो यथाजातो बालो मातृमुखो जडः, इति हेमचन्द्रः) १८. आकाशतुल्याम्।

विरचयसि सहसैव। अहा! मम गाढ़ान्धकारमये भाग्यनिशीथेऽप्येका[१] प्रकाशदीधितिरुल्लसिता[२] यत् कूपावलम्बिना क्षुत्क्षामकण्ठेन मधु-भोज्यमासादितम्। ओ! आगत इतरो बिन्दुरत्यन्तगृध्नुतया स्व-जिह्वाममत्रीयति[३] नीचैरपातयन् मधु लेलिहानः शिरो धुन्वानो ब्रूते— "चित्रम्! ईदृङ् माक्षिकं तु कदापि नालेहि मया मधुनोऽष्टजातिषु किमिदं पौत्तिकम्[४]। उत भ्रामरम्? किंस्वित् क्षौद्रम्? आहोस्विदौ-द्दालिकम्? नहि, ज्ञातं-ज्ञातम् एकान्तमधुरमिदं तु राजसेवितं छात्रं मधु प्रतीयते। मूर्खं शिरोमणे! किं जातिभेदमीमांसया? माधुर्यादि-गुणान् प्रेक्षस्व। बत! आगादन्यापि विप्रुट्' (सशब्दमास्वादयन्)।

अहा! मधुरिमा त्वन्यान्यभूरिपदार्थेषु विराजते, किन्तु मधु-माधुरी तु काप्यन्यादृशी हि विद्यते, अतएव हि चिकित्साचणैरेन-देवानुपानरूपमुपापादि। सन्ति नाम मुखमिष्टाः सहस्रशः, परन्त परिणामकटुका निभाल्यन्ते, अदस्तु तद्विलक्षणलक्षणं विलसतितराम्, अहह! धन्यं भागधेयम्!!

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये
तृतीयः प्रकाशः

१, भाग्यार्धरात्रे २. प्रकाशकिरणः ३. अमत्रीयति=अमत्रम्-पात्रम्, तद्विवाचरतीति अमत्रीयति ४. पौत्तिकाद्या मधुभेदा मक्षिकाभेदेन आयुर्वेद-

"भाग्य ! तेरी महिमा अचिन्त्य है । तेरी लीला अवर्णनीय है । तेरी कलना अकल्पित है । मनुष्य जिसकी कल्पना भी नही कर सकता वह तू सहसा कर देता है । अहा ! मेरे गाढ़ान्धकारमय भाग्य की रात्रि मे प्रकाश की एक किरण प्रस्फुटित हो रही है । कुएं मे लटकते हुए तथा भूख से अत्यन्त पीड़ित मुझे मधु का भोजन मिला है । ओह ! आ रहा है दूसरा विन्दु !" उसने अत्यन्त गृद्धि से अपनी जीभ वाहर निकाली और मधु को नीचे नही गिराते हुए उसे चाट लिया और शिर हिलाते हुए उसने कहा—आश्चर्य ! ऐसा मधु तो मैंने पहले कभी नही चखा । मधु की आठ जातियो मे क्या यह, पौत्तिक है, भ्रामर है, क्षौद्र, है या औद्दालिक है ? नही ! नही, यह तो अत्यन्त मधुर राज-सेवित छात्र मधु प्रतीत होता है । अरे मूर्ख शिरोमणि ! जाति भेद की मीमासा से क्या ? इसके माधुर्य आदि गुणों को देख ! वत ! एक दूसरा विन्दु भी आ गया । (स-शब्द उसका आस्वाद लेते हुए) आह ! मधुरिमा तो अनेक दूसरे पदार्थो मे भी है किन्तु मधु की मधुरता कुछ दूसरी ही है । इसलिये निपुण चिकित्सको ने इसीका अनुपान मान्य किया है । मुंह को मीठा करने वाले हजारों पदार्थ है, परन्तु वे सारे परिणाम-कटुक होते हैं । इस मधु मे उनसे विलक्षण लक्षण प्रतीत होते हैं । धन्य है भाग्य को ।

तीसरा प्रकाश समाप्त

शास्त्रतोऽवगन्तव्याः ५. विन्दुः (विन्दी पृषत्पृषतविप्रुषः, इति हेमचन्द्रः)

★ चतुर्थः प्रकाशः

सविस्मयं प्रभवोऽनुयुङ्क्त—तदनन्तरं का घटना घटिता ?

जम्बूः—"अयि ! प्राणेश ! विलोक्यतामीषन्नव्य कौतुकम्" व्योमयानगामिन्या खगेन्द्रभामिन्या प्रोक्तम् । किमित्यनुयुञ्जाने[1] पत्यौ करशाखानिर्देशेन दयनीयदशं विवशं कूपावलम्बिनमध्वनीन[2] दर्शयामास सा ।

पतिः—मुग्धे! नावबुध्यसे किमपि विचित्रचित्रचित्रितोऽयं संसार-सागरः, न जानेऽत्र किं किं घटितं विघटते, विघटित च घटते । निजनिजादृष्टनिगडनिगडिता[3] केचन हसन्ति, केचन रुदन्ति, केचित् सुखिन , केचिद् दु खिनः, केचिदास्तिका, केचिन्नास्तिकाश्व कांस्कान् दर्श दर्शं वयं विमनायामहे, कांस्कांश्च लोक लोक[4]मुन्मनायामहे । अस्य जगतो विचित्रा पद्धति, नास्मिन् प्रपञ्चे पतितव्यमस्माभिः । परोपकारधियाऽत्र पतयालवोऽपि प्रान्ते पश्चात्तापतप्ता दरीदृश्यन्ते । उपकारस्यानृण्यमत्रापकार:[5] । न श्रुताः किमु भवत्याऽनेके परोपकार-पटिष्ठा नेतार. पशुमारं मार्यमाणाः । अतोऽस्मै दूरादेव नमोऽस्तु नास्मादृशामत्र पतनावकाशः ।

पत्नी—"प्राणेश ! कीदृग् निर्दयं हृदयं वर्तते भवताम् ? व्याव-हारिकी स्थितिमपि नाद्रियते[6] कर्त्तव्यवैमुख्यं च ख्यापयति[7] भवद्वृत्तिः । चेदेतादृक्षे कृच्छ्रपञ्जरे[8] वयं निपतामः, सपत्राकृतिं[9] चानुभवामस्तत्र

---

१. अनुयुञ्जाने=प्रश्नं कुर्वति २. अध्वनीनम्=पथिकम् ३. स्व स्व-भाग्यशृङ्खलाबद्धाः ४. दृष्ट्वा=दृष्ट्वा ५. आनृण्यम्=ऋणमुक्तिः ६ नाङ्गी

★ | चौथा प्रकाश

सविस्मय प्रभव ने पूछा—'उसके वाद क्या घटना घटी ?,

जम्बू ने कहा—'उस समय आकाश मार्ग से विमान मे जाते हुए विद्याधर की स्त्री ने अपने पति से कहा—प्राणेश ! यह नया कौतुक देखो ! पति ने पूछा—क्या है ? पत्नी ने अंगुली-निर्देश से कुए मे लटकते हुए अवश तथा दयनीय दशा को प्राप्त पथिक को दिखाया।

विद्याधर ने कहा—प्रिये ! तू कुछ नही जानती। यह संसार समुद्र विचित्र चित्रो से चित्रित है। न मालूम यहाँ क्या क्या वनी वनाई घटनाए विघटित हो जाती हैं और विघटित घटनाए नई वन जाती हैं। अपनी अपनी भाग्य श्रृंखला से वन्धे हुए कई हँसते हैं, कई रोते हैं, कई सुखी है, कई दु.खी, कई आस्तिक है कई नास्तिक—किन-किन को देख कर हम विमनस्क वनें और किन-किन को देखकर हम उत्सुक ! इस जगत् की विचित्र पद्धति है। इस प्रपञ्च मे हमे नही पड़ना चाहिए। इसमे परोपकार की बुद्धि से पडने वाले भी अन्त मे पश्चात्ताप से तप्त देखे जाते हैं। यहा उपकार का वदला अपकार ही होता है। क्या तुमने यह नही सुना कि परोपकार पटु अनेक नेता पशु की भाति मारे गए है। अतः इसे दूर से ही नमस्कार है। हम जैसे व्यक्तियो का इस प्रपंच मे पड़ना उचित नही है।

पत्नी ने कहा—प्राणेश ! आपका हृदय कितना कठोर है ? आपकी वृत्ति व्यावहारिक भी नही है। वह कर्त्तव्य-विमुख वन रही है। यदि हम इस प्रकार के कष्ट मे पडें और अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करें, यदि वहां दूसरे

करोति ७. सूचयति ८. कष्टपञ्जरे ९. अत्यन्तपीडाम्, (सपत्राकृति-निष्पत्राकृतीत्वत्यन्तपीडने, इति हेमचन्द्र.)।

यदि परे औदासीन्यसङ्गिनस्युस्तर्हि आस्माकीनं चेतः किं किं न विचिन्तयेत् ? किं किं नाक्षिपेत् ? कीदृगाशीराशिमुच्चरेच्च[1] ? नाहमात्मिकधर्मं प्रतिपिपादयिषामि,[2] किन्तु राष्ट्रधर्मे त्वेकः परस्या-ऽस्त्येव साहाय्यानुप्रेक्षी, 'पीतं मया मे वृषभाभ्यां च भवतु भूमिसात्-कूपोऽयम्" इत्युक्ति ये चरितार्थयन्ते, न ते जगन्मान्या जायेरन् । चत्वारोऽपि वर्णा अत्र सवर्णा विद्यन्ते । वयमेव मुख्याः, परे नीचा नहि जातु न. कोटिमारोढुमर्हाः सन्तीत्यभिमन्यमाना न गौरवगतिमासादयेयुः। उच्चावचत्व कर्मजन्यं, नहि जन्मजन्यमामनन्ति मनीषिणः । नाथ ! केवलस्वोदरस्यैव भरणेन नतरां भुवनाभरणं भवति भूस्पृक्[3], किन्त्वौदार्यादिसद्गुणभूम्ना[4] भुवनभानुर्भवेत्; अतो नितान्तदुःखि-नोऽस्य दुःखं दूरयितुं प्रयतितव्यमस्माभिः ।

खगेशः— प्रिये ! त्वमनवसितजगद्रहस्या मुग्धस्वभावतया पाकवदात्तहेवाका[5] वर्त्तसे । परन्त्वेवंविधा जनाः कष्टपावकपचेलिम-लक्षणा अेव भवन्ति । मम मनस्त्वेवमनुमिनोति यदन्धूद्धारप्रस्तावमपि[6] नायमुररीकर्त्ता; तथापि ते निकाममाकाङ्क्षाऽस्ति[7] तर्हि विधीयतां परीक्षा, मुधा समयव्ययश्च ।

पत्नी—कथं भवदीयं स्वान्तमद्य शैलशैली स्वीकुरुते ? जनास्त्वा-काशमुपरि अधस्ताद् धरित्रीति दुःखपरिसीमानमुद्घोषयन्ति, किन्त्विह तु द्यावाभूम्यो[8] रान्तरदशामवलम्बतेऽयम्, किमधुनापि नहि कृच्छ्रदशा मुमुक्षिष्यति[9] ? नहि-नहि, पतिदेव ! स्वकालक्षेपविक्षेपेन यदुच्यते न तत् स्वीकार्यं कथमपि । नीयतां नीचैर्विमानं सत्यापयामि साम्प्रत-मेव मे कथनम् ।

पतिः—अस्तु, तवेच्छा, पान्थमुद्दिश्य विमानं नीचैर्नयमानस्तत्स[10] देशमागत्य मधुरं प्रोवाच—"भद्र ! त्वां दुरवस्थ कृच्छ्रपङ्कमग्नं समीक्ष्य द्रुतहृदयास्त्वदुद्धारप्रवणा[11] वयमत्रागताः स्मः । एहि आगच्छ सत्वर-

---

१ आशीराशिम्=आशीर्वादसमूहम् २ प्रतिपादयितुमिच्छामि ३. मर्त्याः ४. सद्गुणबाहुल्येन ५. पाकः-बालकस्तद्वत, आत्तः-गृहीतः, हेवाकः-आग्रहो यया सा ६. कूपोद्धारप्रस्तावम् ७. प्रकामम् क्रियाविशेषणम् (कामं-

उदासीन रहें तब हमारा चित्त क्या क्या चिंतन नहीं करता ? क्या-क्या आक्षेप नही करता ? क्या-क्या दुराशीप नही देता ? मैं आध्यात्मिक धर्म का प्रतिपादन नहीं करना चाहती, किन्तु राष्ट्र-धर्म में तो सभी एक दूसरे के सहायानुप्रेक्षी होते हैं। "मैं पिया मेरा बैल पिया चाहे कुआं ढह पड़े" जो इसी उक्ति को चरितार्थ करते है वे जगत्मान्य नही बनते। यहां चारो वर्ण समान हैं। मैं ही मुख्य हूँ, दूसरे नीचे है, वे कदाचित् भी मेरी कोटि में नही आ सकते—यह मानने वाले कभी गौरव नही पा सकते। ऊँच-नीच भाव कर्म-जन्य है, जन्म-जन्य नही—यह मनीषी मानते हैं। नाथ ! केवल अपने उदर की पूर्ति करने से मनुष्य संसार का आभूषण नही बन सकता किन्तु, औदार्यादि सद्गुणों से ही वह विश्व का सूर्य बनता है। इसलिए इस अत्यन्त दुःखी व्यक्ति का दुःख दूर करने का हमे प्रयत्न करना चाहिए।

विद्याधर ने कहा—'प्रिये ! तुझे जगत के रहस्य का ज्ञान नही, तू केवल अपने नारी-सुलभ स्वभाव से बालक की तरह हठ कर रही है। परन्तु ऐसे लोग कष्ट मे रहने योग्य ही होते हैं। मेरा मन यह अनुमान कर रहा है कि यह कुएं से निकलने का प्रस्ताव भी स्वीकार नही करेगा। तो भी तेरी प्रबल आकांक्षा है अतः परीक्षा की जाय और समय का व्यय भी।'

पत्नी ने कहा—'आपका अन्तःकरण आज पर्वत-सा कठोर कैसे हो रहा है ? लोग यह कहकर कि ऊपर आकाश है और नीचे धरती-अपने दुःख की सीमा बताते हैं किन्तु यहां तो आकाश और भूमि के बीच त्रिशंकु की तरह यह लटक रहा है। क्या यह अब भी अपनी कष्ट दशा को नही छोड़ना चाहेगा ? नही, नही, पतिदेव ! आपने जो समय व्यय के कारण से जो कुछ भी कहा है वह कभी भी स्वीकार्य नही है। विमान नीचे ले चलें, मै अपने कथन को अभी प्रमाणित करती हूं।'

विद्याधर ने कहा—"अस्तु, जैसी तेरी इच्छा।" उस पथिक को लक्ष्य कर वे विमान को नीचे ले गए और उसके समीप जाकर मधुर वाणी में बोले

प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टे यथेप्सिते, इति हेमचन्द्रः) ८. आकाश-पृथिव्योः ९. मोक्तुमेषिष्यति १० "देशम्=समीपम् ११. चलितचेतसः।

मालम्बनीयमस्मदीयं करमविलम्बमालम्बस्व, त्वत्सर्वदुःखमोक्षदक्षे चास्स्व[1] व्योमयाने । भ्रातः ! न ज्ञायते त्व कथमेवंविधां दशामापन्नोऽसीति, किन्तु विपदोऽनुपदं संपदपि पदमादधात्येव, नारेकणीयमत्र[2] ।

कूपावलम्बी जनः सहसैव चमत्कृत इव जज्ञे । मुखमूर्ध्वीकृत्य दृशौ भ्रामयन् कान्तिकमनीय दैवतमिव कञ्चित् पुरुषं ददर्श । क्षणं यामि तिष्ठामीति विकल्पदोलामान्दोलयन् मधुरमधुस्वादलाम्पट्य-पटुश्चटुवचनमुवाच—'महती कृपाऽकारि श्रीमद्भिर्यत् कुहापि[3] जिगमिषन्तः स्वचिकीर्षितमावश्यकं कार्यं गौणीकृत्य मादृशमन्द-भाग्यजनहेतुकं कष्टमाधायि । यदि वा भवत्येव मनस्विनामेषैव रीतिः । परोपकारप्रवणाः किं किं न त्यक्तुमीहन्ते ? किन्तु यादृशः प्रसादो व्यधायि तादृश अेव पुनरीषत्करणीयः, यदहं साम्प्रतं पततो मधुपृषतान्[4] लेम्हि[5], अलौलिकं माधुर्यमनुभवामि । अहो ! यदर्थं भ्रमरालिभृ शं बम्भ्रमीति तदनायासं मन्मुखसेवीति समास्वदे ।

मा पतन् मधु नीचैरिति झगिति वदन वक्रयन् रदच्छदाभ्यां[6] रसना बहिर्निष्कासयन् कपोलौ निम्नौन्नतौ विरचयन् सचुच्कारं माक्षिकं लेढुं लग्नः ।

विद्याधरः—अरे ! मूर्खभट्टारक ! किमु मुधा समयाकरोषि[7] ? न जानासि परितः परिवेष्टितामापद्घनाघनपटलीम् ? अज्ञानिना वतंस! केवललोलालौल्यवशंवदः किं भीषमभीष्मां दशां विस्मरसि ? यत्कर्तितदेशीया[8] तव करायत्तीकृता शाखा त्वाखुभ्याम्, एज्यमानः[9] खलु सकलोऽपि सालो[10]ऽनेनोदग्रदता दन्तिना, विष्वग्[11] व्यात्तमुखा व्यालाः, नीचैस्त्वद्गिलनकृतादरौ चाऽजगरौ । बुद्धिशत्रो ! अस्ति कोऽप्यवसरोऽधुना तु त्वदुद्धारस्य पश्चात्तु पश्चात्तापमन्तरेण न किमपि लप्स्यसे ।

---

१. आसीनो भव २. न संशयितव्यम् ३. कुत्राऽपि ४. मधुबिन्दून् ५. आस्वादयामि ६. ओष्ठाभ्याम्, (ओष्ठोऽधरो रदच्छद, इति हेमचन्द्रः) ७. समय यापयसीत्यर्थः, (समयाच्च यापने, इति डाच्) ८. ईषदूना कर्तिता इति

भद्र ! तुम्हे बुरी दशा रूप कष्ट कीचड़ में निमग्न देखकर करुणा से चंचल हृदय हुए हम तुम्हारा उद्धार करने के लिए यहां आए है। आ, शीघ्रता से आ ! हमारा हाथ पकड़ ले, शीघ्रता कर। तेरा सारा दुःख छूट जाएगा, आ विमान में बैठ ! भाई ! पता नही तू ऐसी दशा मे क्यों पड़ गया ? किन्तु विपत्ति के पीछे संपत्ति भी आती है, इसमें शंका नही करनी चाहिये।'

कुएं मे लटकता हुआ व्यक्ति सहसा विस्मित हुआ। उसने ऊंचा मुंह कर आँखों को घुमाता हुआ एक अत्यन्त सुन्दर दिव्यमूर्ति वाले किसी पुरुष को देखा। यहाँ रहूँ या जाऊँ... ...इस प्रकार वह मधु-स्वाद का लोलुप विकल्पों मे झूलता हुआ बोला—"आपने यहां आकर महती कृपा की। कही जाते हुए अपने आवश्यक कार्य को गौण कर मेरे जैसे मन्दभाग्य व्यक्ति के लिये आपने यह कष्ट उठाया। मनस्वी व्यक्तियों की यही रीति होती है। परोपकार प्रवण व्यक्ति क्या क्या नही छोड़ते ? किन्तु आपने जो कृपा की है वैसी ही पुनः करें। मैं अभी गिर रहे मधु विन्दुओ का आस्वाद ले रहा हूँ, अलौकिक मधुरता का अनुभव कर रहा हूँ। अहो ! जिसकी प्राप्ति के लिए भ्रमर अत्यन्त घूमते हैं वह अनायास ही मेरे मुंह मे पड़ रहा है, इसलिये उसका आस्वाद ले रहा हूँ।"

विन्दु नीचे न गिर पड़े, इसलिए शीघ्रता से मुंह को मरोड़ता हुआ जीभ को होठों से वाहर निकालता हुआ, कपोलो को ऊंचा नीचा करता हुआ, चुत्कार के साथ वह मधु को चाटने लगा।

विद्याधर ने कहा—"अरे मूर्ख-भट्टारक ! तू समय को व्यर्थ क्यो गवा रहा है ? क्या तू अपने चारो ओर छाये हुए आपत्ति के वादल को नही देखता ? अरे मूर्ख ! केवल जीभ के आस्वाद के वशीभूत होकर क्या तू अत्यन्त भीषण अवस्था को भूल रहा है ? तेरे हाथ मे पकड़ी हुई शाखा चूहों द्वारा प्रायः काट ली गई है। यह वृक्ष भी उस उदग्र हाथी से कम्पित हो रहा है। चारो ओर मुंह फाड़े सर्प पड़े हैं। नीचे अजगर निगलने के लिए तत्पर हैं। मूर्ख ! अभी तो तेरे उद्धार का समय है, पीछे पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ नही मिलेगा।"

कर्तित देशीया ९. कम्पमानः १०. सालः=वृक्षः ११. सर्वतः, (परितः सर्वतो विष्वग्, इति हेमचन्द्रः)

तत्पत्न्यपि—भ्रातः ! त्वदनुग्रहार्थं मयैवाग्रे गन्तुमनसोऽपि पतिदेवाः साग्रहमनुरुद्धाः । त्वदीयां करुणां दशां निभाल्य मम कोमलमन्तःकरणं खिद्यतेतमाम् । किं नु [1]क्षोदिष्ठक्षणिकजिह्वाजन्य-सुखहेतवे जिहासिसि चिररात्राय[2] जीवनसुखम् ?इमं दुःखार्णवं तीर्त्वा भृशं माक्षिकभक्षी[3] भवितुमर्हसि । वार्त्तमानिकोऽवसरस्तु सुतरां साधनीय एव । मुहुर्मुहुर्भणन्त्यामपि विद्याधरभार्यायामीष-दप्येषको नहि विशेषयति तदीयां शिक्षाम्; किन्तु निःशेषमधुलेहलय-लीनोऽनिर्वचनीयसमाधिमाराधयति विधिविधुरः ।

विद्याधरी स्वगतं विचिन्तयति—"स्थाने[4] खलु कथनमासी-दत्यर्थ[5]मनुभवितुर्मम भर्त्तुः । हा ! हा ! दृश्यन्ते नन्वेवंविधा दुर्विधा[6] हिताहितविवेकविकला जनाः । प्रत्यासन्नेऽपि मृत्यौ कीदृशी विषय-विह्वलता ? कृतान्तकवलितोऽपि नहि प्रत्यावलते करणलाम्पट्यात् । युक्तियुक्तोक्तिर्वा नीतिज्ञानाम्-यदिन्द्रियविषया मृतमपि मारयन्ति, हतमपि च घ्नन्ति । दशलक्षविपक्षक्षेपणक्षमोऽपि कातरायते विषयातुरो जेतुमात्मानम् । आत्मना ह्यात्मजयः संभाव्यो न तु परेण नरेण । तत्र कृत्स्नविषयग्रामपोषकृततोषा[7] दुर्जेया रसज्ञैवैषानुभूता[8] महानुभावैः । अस्या जयमन्तरेण नहि जय्यानि[9] खल्वपराणि करणानि[10] । अस्यां सुलब्धविजयो हि सर्वत्र स्वाधीनजयः । अत्र संयमिनि रोगास्तु निरन्तरवियोगा जायेरन्, भोगाभिलाषापि ग्लायन्ती मोघीस्यात् । हन्त ! हन्त ! क्षणेन गलशुण्डिकया स्वादु सुसंस्कृतमपि भोज्यं नीचैः संचालितं सत् नहि किमपि स्वादुतामा-दधाति । स्वादिष्ठाऽस्वादिष्ठयोर्नैव विवेचनं कुरुते दृतितुल्या[11] कुक्षिः, सा सर्वमप्येकरूपेण परिणमयन्ती केवलं रागद्वेषवशंवदानां लोलालोलानां[12] लोकानां मौढ्यमेवाऽऽविष्कुरुते न किम् ?

---

१. "क्षोदिष्ठ"=अतिक्षुद्रम् २. चिराय, (चिरय॰ चिररात्राय, इति हेमचन्द्रः) ३. मधुभक्षकः ४. स्थाने=युक्तिमित्यर्थ ५. अत्यर्थम्=तीव्रम् (अत्यर्थंगाढमुद्गाढं, वाढं तीव्रं भृशं दृढमिति हेमचन्द्र॰) ६. दरिद्राः, (दरिद्रो दुर्विधो दुःस्थ, इति हेमचन्द्रः) ७. समस्तविषयसमूहपोषेण कृतस्तोषो यया सा, जिह्वाद्वारा हि समस्तेन्द्रियविषयाः पुष्टा भवन्तीत्यर्थः ८. रसना,

विद्याधर की पत्नी ने भी कहा—"भ्रात ! मैंने ही तेरे अनुग्रह के लिये पतिदेव को आगे जाने से साग्रह रोका है। तेरी करुणदशा को देख कर मेरा कोमल अन्तःकरण अत्यन्त खिन्न हो रहा है। तू क्षणिक जिह्वा-जन्य सुख के लिए चिरकालिक जीवन सुख को क्यो गवा रहा है ? इस दुःख समुद्र को पार करने के बाद तुझे मधु खाने के अनेक सुअवसर मिल सकते है। वर्तमान अवसर का लाभ तो उठा लेना ही चाहिए।" विद्याधर की पत्नी के द्वारा बार बार कहे जाने पर भी उसने उसकी शिक्षा नही मानी, किन्तु समस्त मधु को चाटने मे लयलीन होकर वह मन्दभाग्य व्यक्ति अनिर्वचनीय आनन्द पा रहा था।

विद्याधरी ने मन ही मन सोचा—मेरे अनुभवी पतिदेव का कथन अत्यन्त युक्त था, हा ! हा ! इस जगत् मे इस प्रकार के हिताहित के विवेक से विकल दरिद्र व्यक्ति भी देखे जाते हैं। मृत्यु की सन्निकटता में भी यह कैसी विषय-विह्वलता ? यमराज के द्वारा कवलित होने पर भी व्यक्ति इन्द्रियो की आसक्ति से मुंह नही मोड़ता। नीतिज्ञों का यह युक्तियुक्त कथन है कि इन्द्रिय के विषय मरे हुए को भी मारते हैं। विषयासक्त व्यक्ति जो दस लाख शत्रुओं को जीतने में समर्थ होता है, वह अपनी आत्मा को जीतने मे कायर बन जाता है। आत्मा से ही आत्मा की विजय संभव है, दूसरे व्यक्ति से नही। समस्त इन्द्रिय विषयों को पुष्ट करने वाली यह जीभ ही दुर्जेय है—ऐसा महर्षियों का अनुभव है। इसको जीते विना दूसरी इन्द्रियो पर विजय नहीं पाई जा सकती। इसको जीतने वाला ही सर्वत्र विजयी हो सकता है। जिह्वा के संयम से रोग सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। भोग की अभिलाषा भी व्यर्थ हो जाती है। हन्त ! हन्त ! सुस्वादु और पूर्ण संस्कृत भोजन भी गले के नीचे उतर जाने पर कुछ भी स्वाद नही देता। चर्म की थैली के सदृश यह उदर भी स्वादिष्ट और अस्वादिष्ट भोजन का पार्थक्य नही करता। तो क्या सबको एक रूप में परिणत करने वाला यह उदर राग-द्वेष के वशवर्ती तथा जिह्वा-लोलुप लोगों की मूढता नही बता रहा है ?

(रसज्ञा, रसना, जिह्वा, इति हेमचन्द्रः) ९. जेतुं शक्यानि (क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे) १०. इन्द्रियाणि ११. "दीवड़ी के समान" इति भाषायाम् १२. चपलजिह्वानाम्

विद्याधरः—अरे नरापसद[1] ! त्वयाऽऽगन्तव्यं न वा ? यद्यागन्तव्यं तर्हि सत्वरमागच्छ, यामोऽन्यथा वयं तु । मूढ ! त्वत्कृतेऽस्मदीयमावश्यकं कार्यं विनश्यति, न किं विभावयसि ?

कोपकम्प्राधरः कूपावलम्बी—किं मदीयं मधुरं मधुभोज्यं प्रत्यूहमानैस्त्वर्यते[2]?किमायाहि आयाहीति मुधैवोद्घोष्यते,'केदृशी त्वरा? गाम्भीर्यं तु विलोक्यत एव नहि । दृष्टाः खल्वेते परोपकारपण्डिता वाक्च्छूराः । यदि गमनं गमनमित्येव गीयते तर्हि द्राग् गम्यताम्, केनाहूता भवन्तोऽत्रागत्य परोपकृतिपाटव दर्शयितुम् । मनस्विनस्तु परोपकारहेतोः सर्वतोमुखी स्वहानिमुपेक्ष्यापि सुतरां यतन्ते । भवादृशास्तु वृथैव परोपकारपाण्डित्यमुद्वहन्ति, अबद्धभाषया भाषमाणाश्च प्रतिष्ठामुपतिष्ठन्ते[3] । (मुखं परावृत्य मधु भक्षयन् सृक्विणी[4] लेलिह्यमानः पुनरपि) उम् ! किमप्यकृत्वापि कीदृगाभार प्रकटयन्ति यदीषदपि साधित स्यात्तर्हि विष्णुपदमपि[5] क्रोडीकुर्युरेते (भ्रकुटिं भ्रामयन्) गच्छन्तु भो ! लघु गच्छन्तु युष्माकं सामयिकं कार्यं विनङ्क्ष्यति, मच्चिन्तामनासेवमानाः स्वसदनदेहलीमलमासेवन्ताम् । "बहुरत्ना वसुन्धरा" इति भवतां भ्रातरो भृशमन्ये मदर्थं कष्टमाधास्यन्ति विपद्गतिं दूरयिष्यन्ति च ।

शिरो धुन्वान आ ! न्यक्पातो भवति विप्रुषां-सस्मितं मध्वस्यति[6] ।

पत्न्यपि—नाथ ! अनुभूतिशून्यया मया यद् भवद्वाक्य खिलीकृतं तत् क्षम्यतां कार्यहानिरपि च । एतादृशां पतनार्हाणां पातो नातःपरमारेकणीयो मया । इत्थ सम्भाषमाणौ दम्पती व्योमगामियानमारुह्य विषादविस्मयसंपृक्तमानसौ सपदि प्रतस्थाते ततः ।

इतः स्तम्बेरमेण शाखी गाढमान्दोलितः । इत आखुभ्यां शाखा कर्तिता । स्वपापभारेण सह शरीरभाराभिभूतोऽन्तःकूपं सहसैव पपात सः । विभजमानैरिवाऽजगरदर्वीकरैः[7] खण्डशः कृतो मृतश्च ।

---

१ नराधमः २. विघ्नं कुर्वाणैः (विघ्नेऽन्तरायप्रत्यूह, इति हेमचन्द्रः) ३. उपपूर्वादकर्मकात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदम् ४. ओष्ठप्रान्तौ (औणादिकः क्वनिप् प्रत्ययान्तः सृक्वः सृक्वणीति द्विवचनान्तम्) ५. आकाशम् ६. लौल्येन मधुभक्षितुमिच्छति, (असुक् च लौल्ये, इति असुगागमः)७. अजगरसर्पैः

विद्याधर ने कहा—अरे नराधम ! तू आना चाहता है या नही ? यदि आना है तो शीघ्र आ, अन्यथा हम जा रहे हैं। रे मूढ़ ! क्या तू यह नहीं देखता कि तेरे लिए हमारा आवश्यक कार्य नष्ट हो रहा है ?

होठो को धुजाते हुए कूपावलम्बी व्यक्ति ने कहा—मेरे मधुर मधु भोजन में अन्तराय डालने वाले आप क्यों शीघ्रता कर रहे हैं ? आओ, आओ—ऐसा व्यर्थ ही क्यों कह रहे हो ? ऐसी क्या शीघ्रता है ? गंभीरता तो है ही नही। देख लिया, मैंने इन वाचाल परोपकार पंडितो को। जाना है, जाना है, यदि यही कह रहे हैं तो जल्दी जाइए। यहां आपको अपनी परोपकार पटुता दिखाने के लिए किसने बुलाया है ? मनस्वी व्यक्ति तो सर्वतोमुखी स्वहानि की उपेक्षा करके भी परोपकार के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। आप जैसे तो वृथा ही परोपकार के पांडित्य का भार ढो रहे हैं और बेतुकी बातें बनाते हुए अपनी प्रतिष्ठा दिखा रहे हैं। मुख मोड़कर मधु खाते हुए होठो को चाटते हुए पुनः उसने कहा—हां ! बिना कुछ किये ही कैसा आभार दिखा रहे हो ? यदि थोड़ा भी किया होता तो संभव है आकाश को भी अपनी गोद मे बिठा लेते। (भृकुटी को घुमाता हुआ) जाओ शीघ्रता से जाओ। तुम्हारा सामयिक कार्य नष्ट हो जाएगा। मेरी चिन्ता किए बिना ही आप अपने घर जाइये ! 'बहुरत्ना वसुन्धरा' इस उक्ति से आपके दूसरे भाई मेरे लिए कष्ट करेगें और मेरी विपदा को दूर करेंगे।

सिर धुनता हुआ—ओह ! मधु बिन्दु नीचे गिर न पड़े ऐसा सोच कर लोलुपता से उसे चाटने लगा।

पत्नी ने भी कहा—नाथ ! अनुभव-शून्य मैंने आपकी बात नही मानी उसके लिये क्षमा करें। आपके कार्य की हानि भी हुई है। इस जैसे पतनशील व्यक्तियों का और अधिक क्या पतन होगा ? इस प्रकार सम्भाषण करते हुए दोनों अपने विमान मे बैठकर विषाद और विस्मय युक्त मन से सहसा वहां से चले गए।

इधर हाथी ने वृक्ष को जोर से हिलाया। इधर चूहो ने शाखा काट डाली। वह अपने पाप के भार के साथ-साथ शरीर के भार से अभिभूत होकर सहसा ही कुएं मे जा गिरा। अजगर और सांपो ने उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये। वह मर गया।

प्रभवः—किमनेन निदर्शनेन भवता न्यदर्शि ? कोऽस्त्येतादृशो मूर्खमुख्यो यः केवलमधुभुक्तये जीवनसुखं वञ्चयते ?

जम्बूः—वयमेव यदि विचारयामः ?

प्रभवः—कथमहो प्रोक्तं भवता, विवर्णशेखरायमाणा[1] वयमिति ?

जम्बूः—आकर्ण्यतां तर्हि सावधानं यदहं व्यनज्मि चतुस्रदर्शनं[2] निदर्शनम् ।

प्रभवः—बाढमहं श्रोतुमुत्कोऽस्मि, व्यञ्जनीयो दृष्टान्ताभिप्रायः ।

जम्बूः—ऐकागारिकेश[3] । महारण्यरूपश्चतुरशीतियोनिलक्षभेद-भिन्नोऽयं संसारः । पथभ्रष्टपथिकवत् सन्मार्गच्युतोऽसौ संसारी । व्यालरूपोऽयं विकरालः कालः । जनिजरारूपोऽयं कूपः । आयुष्यकर्म-प्रकृतिप्रख्या इमाः शाखाः । दिवसनिशासोदरौ तावुन्दुरौ । नरक-तिर्यग्गतिरूपौ भयङ्करौ तावदजगरौ । कञ्चुकिचतुष्क[4]मनुहरन्ती कषायचतुष्टयी । किञ्चित् पूर्वशुभसञ्चितसमं सरघागृहम् । ततः क्षरन्मधुबिन्दुव्रातसन्निभं वैषयिकं सुखम् । नानाधिव्याधिसंयोग-वियोगकृच्छ्रप्रतिमा मक्षिकादंशाः । विद्याधरसधर्माणो निष्कारण-मनुकम्पमानाः सुगुरुचरणाः । धर्मसमानं विमानम् । 'एहि' 'आगच्छ' प्रभृतिवचनमेवोपदेशामृतम् । माक्षिकलौलुप्यसदृग् विषयगार्ध्यम् । कालकरिकम्पिते निजायुःकर्मकारस्करे[5] क्षीणासु तत्कर्मप्रकृतिशाखासु नरकतिर्यगजगराननगुडेरको[6] भवत्यसावसुमान् ! साम्प्रतं विमर्शतु भवान् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यम्, प्रत्यहमनुभूयमानं च जगत् स्वरूपम् ।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये

चतुर्थः प्रकाशः

---

१. मूर्खमुख्याः २. युक्तदर्शनम् ३. चौरेश ! ४. चतुरः सर्पान्

प्रभव ने कहा—'इस दृष्टान्त से आपने क्या समझा ? क्या उस जैसा कोई मूर्ख है जो केवल मधु भोजन के लिए जीवन सुख से वञ्चित रहे ?'

जम्बू ने कहा—'यदि सोचें तो हम ही हैं।'

प्रभव ने कहा—'अहो ! यह आपने कैसे कहा कि हम मूर्ख शिरोमणी है।'

जम्बू ने कहा—'तो सावधान होकर सुनो मैं तुम्हे इसकी यथार्थता को प्रकट करने वाला एक निदर्शन सुनाता हूँ।'

प्रभव ने कहा—'हां ! मैं सुनने के लिए उत्सुक हूँ, आप दृष्टान्त के अभिप्राय को स्पष्ट करें।'

जम्बू ने कहा—'हे चोराधिप ! यह संसार ८४ लाख योनि रूप महा अरण्य है। पथभ्रष्ट पथिक की तरह सन्मार्ग से च्युत यह संसारी जीव है, हाथी जैसा विकराल काल है, जन्म मरण रूप कुंआ है, आयुष्य कर्म की प्रकृति के सदृश ये शाखाएं है, दिन और रात जैसे ये दोनों चूहे है, राग-द्वेष मय दो भयंकर अजगर हैं, कषाय चतुष्टय रूप चार सर्प हैं, पूर्व शुभ संचय के समान मधु मक्खियो का छाता है, झर रहे मधुविन्दु के सदृश वैषयिक सुख है, अनेक आधि-व्याधि, संयोग-वियोग, दुखरूप मधुमक्खियो के डंक हैं, विद्याधर के समान निष्कारण ही दया करने वाले सुगुरुचरण है, धर्म के सदृश विमान है, 'चल' 'आ' आदि वचन ही उपदेशामृत है, मधु की लोलुपता के सदृश विषयगृद्धि है। यह प्राणी काल-रूप हाथी के द्वारा कम्पित आयुरूपी वृक्ष तथा उसकी कर्म प्रकृति रूप शाखाओं के क्षीण होने पर नरक, तिर्यग् आदि अजगरो का ग्रास वनता है। अव तुम दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की समानता का और प्रतिदिन अनुभव मे आने वाले जगत् स्वरूप का विमर्शन करो।'

चौथा प्रकाश समाप्त

---

५. कर्मकारस्करे=कर्मरूपवृक्षे ६. गुडेरको=ग्रासः (ग्रासो गुडेरकः पिण्डः, इति हेमचन्द्रः)



पञ्चमः प्रकाशः

प्रभवः—कुमार ! तव निदर्शनं वस्तुतत्त्वरूपेणैव जगदनुहरतितराम् । चिराय निमीलिते ममापि विवेकनेत्रे त्वच्छिक्षाञ्जनेन प्रोन्मीलिते जाते । सन्ततसमीपयन्तं मृत्युं यदि निपुणतरं निरीक्षेऽहं तदा तु समेऽपि प्राञ्चो[1] वैषयिकशर्मविचारा[2] नहि चारुत्वमञ्चन्ति । आशाविशिष्टा लोभाकुला प्रवृत्तिः कथं नाव्यावहारिकी ? परन्तु त्वत् सकाशाद् भृशमाशामधुरस्वप्नस्वप्नायितानां वार्द्धके सन्ततिसुखमनुसंदधानानां क्षरल्लावण्यधाराणां त्वद्विरहे निराधाराणाममीषां दाराणां का दशा संभविनी ? विभावनीयं किञ्चन । सर्वं काले-काले कलितं कल्याणकारि । समयेऽनुनुष्ठितेऽनवद्यमप्यवद्यम्, मङ्गलमप्यमङ्गलम् । सखे ! विधास्यमानस्य कस्यापि शुभाशुभस्य कार्यस्य परिणतिरवश्यं विमर्शनीयेति नीतिः । दिवं गते मातृपित्रादिगुरुजने क्रोडीकृतसन्ततयोऽष्टावप्येता युवतयो यदास्युस्तदाऽनिरुद्धगतिना व्रतिना भाव्यं भवता ।

चिरपापतापार्पितमुष्माणमाभेजानं प्रभवं सद्धर्मोपदेशामृतमासारधाराभिर्वर्षन् पुनरप्यम्बुद इव जम्बूः प्रोवाच—"भद्र ! अद्यापि ते मोहनिद्रा निश्छिद्रा जरीजृम्भ्यते[3] । यो जगल्लीलामपि स्वप्नलीलायते, परिजनसम्पर्कमपि पान्थसङ्गमायते, वामाङ्गीनां विलासानपि च वार्दलवृन्दायते स किं तत्कृते स्वहित व्याघातयेत् ? जानासि नन्वनन्तानन्तजन्मसु कियन्तो मातृपितृप्रमुखैः सार्धं स्वार्थनिबन्धा. सम्बन्धा व्यधायिषताऽसुमता[4] ? तान्-तान् चिराशासेवमानान् निराधारं

---

१. प्राचीनाः २. सुखम् (स्यादथो शर्म निर्वृतिः, सात सौख्यं सुखमिति



★ पांचवां प्रकाश

प्रभव ने कहा—'कुमार ! तुम्हारा निदर्शन यथार्थ है। यह संसार उसका वस्तुतः अनुसरण करता है। तुम्हारी शिक्षा के अञ्जन से मेरे चिर काल से मुंदे हुए विवेक नेत्र खुल गए है। यदि मैं निरन्तर निकट आती हुई मृत्यु की ओर निपुणता से देखता हूं तो मुझे लगता हैं कि वे सारे पूर्वोक्त वैषयिक सुख के विचार अकिञ्चित्कर लग रहे है। मनुष्यो की प्रवृत्ति जो आशाओ से भरी पूरी है तथा लोभ से आकुल है, क्या वह अव्यावहारिक नही है ? परन्तु अनेक आशाओ के मधुर स्वप्न देखने वाली तथा बुढापे मे सन्तान के सुख की कामना करने वाली, तुम्हें ही एक मात्र आधार मानने वाली, तुम्हारे विरह से निरावार लावण्यमयी इन ललनाओं की क्या दशा होगी ? कुछ सोचना चाहिए। प्रत्येक कार्य यथासमय पर करने से ही कल्याणप्रद होता है। अनुचित काल मे किया हुआ अच्छा कार्य भी बुरा हो जाता है। मंगल भी अमंगल हो जाता है। हे सखे ! नीति का यह कथन है कि किये जाने वाले शुभ-अशुभ कार्य के परिणाम को अवश्य सोच लेना चाहिये। माता पिता आदि बडे वूढ़ो के दिवंगत हो जाने पर तथा इन आठों युवतियों के संतति हो जाने पर आप अप्रतिवंधविहारी मुनि वन सकते हैं।

चिर पाप के ताप की उष्मा से संतप्त प्रभव को, सद्धर्म के उपदेशामृत की धारा को वर्षाते हुए जम्बू ने कहा—'भद्र ! आज भी तेरी मोह निद्रा-सघन है। जो मनुष्य जगत् की लीला को स्वप्नलीला की भांति मानता है, जो अपने कुटुम्वियो के सम्पर्क को भी पथिको का मिलना जुलना मानता है, जो सुन्दरियो के विलासों को वादलो की तरह क्षणिक मानता है क्या वह उनके

हेमचन्द्रः) ३. पौनः पुन्येन जृम्भते ४. अकारिषत, ("विपूर्वो धा" करोत्यर्थे, इति वचनात्)

विरहय्य[१] प्रेत्य[२] सनाथितवति जन्मिनि रोरुद्यमानानां परिजनानामश्रुप्रवाहा [३]असंख्यवीचिमालिनामम्बुपूरमप्यतिरिञ्चन्ति[४] । पुनस्तावतिका जगज्जन्तुभिः समं दारुणानुबन्धाः सम्बन्धाः कारं कारमनेन त्रोटिता यावत्काः प्रभूतविस्तारास्तारा अपि न सन्ति तारकिते नभस्तले। हन्त ! स्वज्ञातीनामिदमेव ज्ञातेयं यत् क्षणाश्रुपातैः सह परिदेवनं[५] विधाय तत्तदैहिकस्वसुखकथाप्रथनैः [६]स्वस्वसम्बन्धं प्रत्याय्य[७] तदौर्ध्वदेहिकक्रियां[८] च समाप्य स कदापि नासीदितीव तं विस्मृतिपथं नयन्ति । प्रतिवत्सरं तन्मृतिदिने सहर्षं पायसादिकं नानापक्वान्नं स्वादुकारं भुञ्जानाः सुखमनुभवन्ति । यं विना क्षणमपि विलक्षणं मन्वानास्ते सगोत्राः साम्प्रतमनामयं तदर्जितां श्रियं भृशमुपयुञ्जते ! चित्रम् ! इयत्येव सुस्थिरीकृता प्रीतिः !

आगमस्तु स्पष्टमेवं गमयति—का जातिरेतादृशी ? का योनिरीदृशी? किं तत् स्थानम् ? किं तत् कुलम् ? यत्रैकेनैव जन्मिना नानन्तशो जन्माधारि ? हन्त ! हन्त !! अनन्तानि कालचक्राण्यपि परिभ्रमताऽनेन कृशाश्विना[९] परिपूरितानि । पुद्गलपरावर्त्तानां वार्त्ता तु श्रवं[१०] पवमाना भृशं वैरङ्गिकी[११] विलसति । अथवा जन्मजन्मान्तर कथात्वस्तु श्लथा ; परन्तु प्रत्यक्षमेकस्मिन्नपि जन्मनि अष्टादशज्ञातेयसम्बन्धा न किं कर्णाकर्णिकयाऽऽकर्णिताः ? नाकर्णिताश्चेदहमेतर्हि[१२] श्रावयामि, सकर्णं श्रूयताम् ।

प्रभवः—अश्रुतपूर्वी तद्वृत्तान्तमहम्, महत् कौतूहलमपि तं श्रोतुं जागर्ति श्रावयन्तुतराम् ।

जम्बूः—विलसत्येका मथुरा नाम नगरी । तत्र वाराङ्गनाव्यूहवरेण्या चातुर्यचञ्चुरा रूपयौवनशालिनी कुबेरसेनानाम्नी गणिका प्रतिवसति स्म । नानानेपथ्यभाषानैपुण्येन नानाविषयवास्तव्यान्

---

१. परितज्य २. परभवम् ३. समुद्राणाम् ४. आधिक्यं प्राप्नुवन्ति
५. विलापः (विलापः परिदेवनमिति हेमचन्द्रः) ६. प्रथनैः—विस्तारैः

लिए अपने हित का व्याघात करेगा ? क्या तुम नही जानते कि इस जीव ने इन अनन्तानन्त जन्मो मे कितने माता-पिता आदि के साथ स्वार्थ-वश सम्वन्ध नही किए ? अनेक आशाओं का सेवन करने वाले अपने परिजनो को निराधार ही छोड़कर जव जीव परभव मे जाता हैं तव वन्धुजनो के अश्रु-प्रवाह असंख्य समुद्रो के पानी के परिमाण का भी उल्लंघन कर देते हैं। इस जीव ने अन्य प्राणियों के साथ दारुण अनुवन्ध वाले इतने सम्वन्ध स्थापित करके तोडे है कि विस्तृत आकाश के तारे भी उतने नही है। हन्त ! अपने संवंधियों का यही संवंध है कि किसी के मर जाने पर क्षण भर आंसू वहाकर रो-धोकर उसके जीवित अवस्था से सधने वाले अपने स्वार्थों की वातें कह सुनकर अपने सम्वन्ध को भूल जाते है। उसकी अंत्येष्टि-क्रिया समाप्त कर उसे इस प्रकार भुला देते है कि वह कभी था ही नही। प्रति-वर्ष उसके मरण दिन पर खीर आदि नाना प्रकार के मिष्टान्न खाकर सुख का अनुभव करते हैं। जिसके विना वे क्षण भर भी नही रह सकते थे, उसके मर जाने पर, दूसरे सम्वन्धी उसके अर्जित धन का मजे से उपभोग करते हैं। आश्चर्य है कि क्या सुस्थिर की हुई प्रीति इतनी ही थी ?

आगम का यह स्पष्ट कथन हैं, कि वह कौन-सी जाति ऐसी है, वह कौन-सी योनि ऐसी है, वह कौन-सा स्थान है. वह कौन-सा कुल है, जहां कि इस जीव ने अनन्तवार जन्म न लिया हो ? हन्त ! हन्त ! इस जीव रूपी नट ने जन्म-मरण के चक्र में घूमते हुए अनन्त काल-चक्र विता दिए। पुद्गल-परावर्तो की तो वात ही क्या ? अथवा जन्म जन्मान्तर की वात को एक ओर रहने दें। क्या तुमने एक जन्म मे ही १८ सम्वन्ध करने वाली वात नही सुनी ? यदि न सुनी हो तो मैं तुम्हें सुनाता हूं, कान लगा कर सुनो।

प्रभव ने कहा—'वह अश्रुतपूर्व है। उसे सुनने के लिए मेरे मन में कुतूहल हो रहा है। आप सुनायें।'

जम्बू ने कहा—'मथुरा नगरी मे कुवेरसेना वेश्या रहती थी। वह सभी वेश्याओं मे श्रेष्ठ थी। वह अत्यन्त चतुर और यौवन से सम्पन्न थी। वह अनेक पोशाको तथा अपनी भाषा की निपुणता से अनेक देश के निवासी

---

७. प्रतीतिमुत्पाद्य ८. पिण्डदान-क्रियाम्। ९. नटेन, (नट: कृशाश्वी शैलाली, इति हेमचन्द्र:) १०. कर्णम् ११. विरागार्ह: १२. साम्प्रतम्।

कामुकान् रञ्जयन्ती तैः सार्धं षड्तुसुखं सुखमनुभवन्ती कालं निनाय। अथान्यदा साऽऽपन्नसत्त्वा[१] समजनि। परिपूर्णे गर्भावधौ पुत्रपुत्री-यमलमनामयमसूत। मातृप्रेम्णा पुत्रौ[२] बिभ्रती[३] तां निभाल्य कुट्टन्या[४] सप्रश्रयं[५] न्यगादि—'दुहितः! सकलकलाकुशलापि नाद्यावधि रूपा-जीवानां वारवधूनां धर्मं बुध्यसे। अनया पद्धत्या चेत् प्रसूतिपालनप्रह्वा भविष्यसि तर्हि त्वस्तु जलाञ्जलिः कौलेयकाय[६] गाणिक्य-[७] कर्त्तव्याय। वत्से! नास्माकमपत्यपालनं चारुत्वमङ्गति। एतानि तु प्रतिपल रुदन्ति, उत्सङ्गसङ्गिनोऽपि हदन्ते, मूत्रयन्ति, वमन्ति च। पुनः पुनः स्तनौ धयन्त्यमूनि कीटवन् मातु शरीरसारं शोषयन्ति, लावण्यं च लुम्पन्ति "प्रसूतान्तं च यौवन" मिति लोकोक्तिश्चरिता-र्थास्ति, किमारेकणीयमत्र। अतो विषादिप्रयोगेण स्वस्नेहेनामाऽमुयो-र्मरणमेव वरतरम्। सर्वमपि गाणिक्यमिदमेवानुतिष्ठति; अन्यथा स्तोकैरेव वत्सरैरस्तोकैस्तोकैर्न[८] किं सदनं संबाधं[९] भावि? किञ्च, देवरमणसमानमपि मन्दिराजिरमस्माकं[१०] पतद्भीरिङ्खद्भिर्हसद्भिः क्रोशद्भीरोषयद्भिरर्भकैर्निरयसमकक्ष भावि, अतः कुरुष्वाऽह्नाय[११] कुलोचितं कर्म।"

नश्यद्दयावंशं नृशंसं कुट्टन्या शंसनं[१२] श्रुत्वा स्वाभाविकप्रसूप्रेम-परिप्लुता सा प्रत्यवोचत्—"मातः! नातःपरमीदृशमनार्योचितं वचनं वचनीयम्। जनयित्र्योऽपि यदि स्वकुक्षिजेषु राक्षसी वृत्तिं कक्षीकुर्वीरन् तर्हि तु जातं जननीधर्मेण। अनवरतमांसाशिनो निःशूकाः[१३] सिंहव्याघ्रादयोऽपि न स्वसन्तानं जिघांसन्ति,[१४] तद्रक्षार्थं भृशं प्रयतमानाश्च प्राणैरप्युपकुर्वते। पुनरविविक्तात्मानः पशुपतगा-दयोऽपि समुच्छलत्सहजप्रेम्णा स्वीयमपत्यमवन्ति;[१५] तदहं मानुषी-भूत्वापि यदि स्वसंतानहत्यानिदानमेनः[१६] सञ्चिनुयाम्, तर्हि तेभ्योऽपि

---

१. गर्भवती २. पुत्रं पुत्रीं च सहोक्तौ द्विवचनम् ३. धारयन्तीम् ४. परस्त्रीपुरुषाणा संयोजयित्री काचिदधिकारिणी। ५. सप्रणयम्, (प्रश्रयप्रणयौ समौ, इत्यमरः) ६. कुलपरम्पराऽगताय ७. गणिकासमूह-कर्त्तव्याय, (गणिकानां तु गाणिक्यमिति हेमचन्द्रः) ८. अस्तोकैस्तोकैः==

कामुक व्यक्तियों को रंजित करती थी और उनके साथ छह ऋतुओ के सुख भोगती हुई काल विताती थी। एक वार वह गर्भवती हुई। गर्भावधि पूर्ण होने पर उसने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। एक-दिन वह अपने सहज-सुलभ मातृ-प्रेम से दोनों पुत्र-पुत्री को प्यार कर रही थी। उसकी माता ने उसे देख लिया। उसने कहा—वेटी ! तू सकल कलाओ मे कुशल होकर भी वेश्याओं के कर्त्तव्य को नही जानती। यदि तू इसी प्रकार सन्तानो के पालन-पोषण में लगी रहेगी तो इस वेश्योचित कर्त्तव्य को जलांजलि देनी होगी। वेटी ! सन्तानो का पालन-पोषण हमारे लिए उचित नही है। ये प्रतिपल रोते हैं। गोद में ही टट्टी, पेशाव, वमन आदि कर देते है। ये वार-वार स्तनपान करते हैं और कीड़ों की भाति माता के शरीर के सार को खीच लेते हैं। ये लावण्य का नाश कर देते हैं। 'प्रसूति यौवन की सीमा है' यह लोकोक्ति यथार्थ है, इसमे कोई सन्देह नही। इसलिए विष आदि के प्रयोग से अपने स्नेह के साथ साथ इनको मार देना ही अच्छा है। सभी गणिकायें यही करती है, अन्यथा थोडे ही वर्षो में अनेक सन्तानो से क्या घर नही भर जाएगा ? क्योंकि अपना यह देवरमण सदृश घर इन वालको के गिरने से, रेंगते हुए चलने से, हँसने से, रोने से, नरक सदृश वन जायेगा अतः शीघ्र ही अपने वेश्या कुल के उचित कर्त्तव्य का पालन कर।

माता के दयाहीन और नृशंस आदेश को सुनकर सन्तान के स्वाभाविक प्रेम से परिप्लुत हो उसने कहा—'मा आगे कभी ऐसे अनार्योचित वचन मत कहना। यदि माताएँ भी अपनी सन्तानों के प्रति ऐसी राक्षसी वृत्ति को स्वीकार कर लें तव मातृत्व-धर्म का क्या होगा ? सदा मास भक्षण करने वाले निर्दयी सिंह-व्याघ्र आदि भी अपनी सन्तान को मारना नही चाहते। वे उसकी रक्षा के लिए वहुत प्रयत्न करते है और अपने प्राणो की वलि देकर-भी उनका उपकार करते हैं। निर्विवेकी पशु-पक्षी भी सहज-सुलभ प्रेम से अपनी सन्तान की रक्षा करते हैं। तो क्या मैं मनुष्य होकर भी अपनी सन्तान की

वहुभिरपत्यैः, (तोकाऽपत्यप्रसूतयः, इति हेमचन्द्रः) ९. संकीर्णम् १०. अजिरम् =प्राङ्गणम् २. अह्नाय=सत्वरम् (मङ्क्ष्वह्नाय च सत्वरमिति हेमचन्द्रः) ११. सूचनम् १२. निर्दया: १३. हन्तुमिच्छन्ति, १४. रक्षन्ति १५. पापम्, (एनः पाप्मा च पातकमिति हेमचन्द्रः)

पापीयसी निर्घृणाऽऽततायिनी न कथ संवर्तेय। प्रथमं भव्यैरसंभावनीया भुजिष्यायाा वृत्तिः, तत्रापि पाकहत्या, हा ! हा ! ईदृक् पापप्राग्भाराभिभूता रौद्रातिरौद्रे रौरवेऽपि पदं न लभेय। अम्ब[1] ! इतरोऽनपायः कोऽप्युपायः सूचनीयः तमहमवश्यमभ्युपगन्तास्मि"[2]।

भालतलचटितत्रिवली शम्भली[3] साक्षेपं ब्रूते—"मुग्धे ! त्वमत्यन्तमूर्खासि, यन्मुधामातृत्व—प्रेमविह्वला पण्याङ्गनापालितं धर्ममवहेलयसि। देवानांप्रिये ! लञ्जिकानां पुण्यपापपञ्जिकया किं प्रयोजनम् ? अस्तु, नास्ति तवेहा चेदिदमाचरितु तर्हीतरपथप्रदर्शनं करोमि; शृणु—एकस्मिन् पिटके स्तनन्धययुगं शाययित्वा प्रवहति वाहिनीप्रवाहे प्रवाहय। पापभीरो ! न ते पोतहत्यापातकं भावि, स्वायुष्यानुरूपमास्पदमधिगमिष्यति तत्, त्वमपि च निरुपद्रवा संवत्स्र्यसि"।

अविधित्सुरपि भृशमक्कया प्रेर्यमाणा कुबेरसेना याथाकथाचं[4] तत् कार्यं कर्त्तुमना बभूव। "वर्धकिमाहूय संदिष्टम्—"भो ! एतादृशीं पेटां विरचय यस्यां शिशुयुगलं सुखं शयीत"। तेनापि कथनानुसारिणी पेटिका निरमायि समर्पिता च। ततो हृदयेन सार्धं वेपमानहस्ता माता सुकुमारपाणिपादौ पुत्रौ कराभ्यां संगृह्य उरसागाढमाश्लिष्य मुखेन मुहुर्मुहुः परिचुम्ब्य साश्रुपातं विलपति—"अयि पुत्र ! अङ्गात्मजे ! युवाभ्यां मादृश्या मन्दभाग्याया. कुक्षौ कथमवतारोऽग्राहि। यदि शुन्या[6] गरभेऽपि" युवयोर्जन्म जातं स्यात् तत्रापि नहि जातमात्राभ्यां युवाभ्यां मातुः सकाशाद् वाहाप्रवाहप्रवहनसमयः[8] समासादितः स्यात्। हा ! हा ! अहं त्वधमाधमा मातृरूपा राक्षसी वर्ते। पुनरपि गाढमाश्लिष्यति। ह ह ह ! का गतिरनयोर्भाविनी ? पुत्रौ ! किं मादृक्षायाः पतितातिपतितजनन्या मुखमालोकमानौ स्निग्धकपोलाभ्यां हसतः ? युवाभ्यां किं विज्ञायते स्वमातुर्दुश्चेष्टितम्" ? इत्थमनल्पविकल्पव्यामिश्रविरहवेदनामनुभवन्ती वाष्पपूर-

---

१. सम्बोधनम् (नित्यदिद् द्विस्वराऽम्बार्थाना ह्रस्वः) २. स्वीकर्तास्मि
३. कुट्टनी ४. येन केन प्रकारेण ५. वर्धकिम् "बढ़ई" इति भाषायाम्

हत्या का पाप संचय करूँ? यदि ऐसा करती हूं तो क्या मैं उनसे भी पापिनी, निर्दयी या आततायिनी नही बन जाऊँगी ? पहले ही तो भव्य-व्यक्तियो के द्वारा असंभावनीय वेश्यावृत्ति है और वहां भी सन्तान हत्या— हा ! हा ! ऐसे पाप के भार से तो मुझे अति रौद्र रौरव नरक मे भी स्थान नही मिलेगा। मां ! मुझे कोई दूसरा निरापद उपाय बता, मैं उसका अवश्य पालन करूँगी।'

भृकुटी को तान कर वेश्या की मां ने कहा—' भोली ! तू अत्यन्त मूर्ख है। तू मातृत्व के प्रेम से विह्वल होकर वेश्याओ द्वारा आचरित धर्म की अवहेलना कर रही है। वेश्याओ को पुण्य-पाप से क्या प्रयोजन ? अस्तु, तू यदि इस मार्ग का आचरण करना नही चाहती तो मैं दूसरा मार्ग बताती हूँ। इन दोनो बच्चो को एक पेटी मे बन्द कर बहती हुई नदी मे बहा दे। हे पापभीरु ! तुझे बालहत्या का पाप नही लगेगा। वे अपनी आयुष्य के अनुरूप स्थान पालेगें और तेरा भी उपद्रव मिट जाएगा।'

कुबेरसेना यह कार्य करना नही चाहती थी, परन्तु माता के कहने पर वह उसे करने के लिए ज्यो-त्यों तत्पर हुई। उसने खाती को बुलाकर आदेश दिया—ऐसी एक पेटी की व्यवस्था कर जिसमे ये दोनो बालक सुख से सो सके। उसने आदेशानुसार पेटी तैयार की और उसे कुबेरसेना को सौप दिया। कुबेरसेना का हृदय धूजने लगा। उसने धूजते हुए हाथो से दोनो सुकुमार बच्चों को छाती से लगाया और मुँह से बार-बार चुम्बन करती हुई आँखो से आसू बहाती हुई कहने लगी—'पुत्र ! तुमने मुझ जैसी मन्द-भागिनि के पेट से क्यों जन्म लिया ? यदि तुम कुत्ती के गर्भ से भी जन्मे होते तो क्या जन्म होते ही नदी मे प्रवाहित होने का समय आ पाता ? हा ! हा ! मैं तो अधमो से भी अधम मातृरूपा राक्षसी हूँ।' इतना कहकर पुनः उनका आलिगन करने लगी। ह ह ह ! इनकी क्या गति होगी ? पुत्रो ! तुम मुझ जैसी अति पतित जननी के मुख को देखकर स्निग्ध कपोलो से क्यो हंस रहे हो ? क्या तुम अपनी माता के दुश्चरित्र को जानते हो ? इस प्रकार अनेक विकल्पो को करती हुई, विरह वेदना का अनुभव करती हुई,

---

(काष्ठतट् तक्षवर्धकी, इति हेमचन्द्रः) १. सरमायाः, (सरमा शुनी, इति हेमचन्द्रः) २. गर्भे, (गर्भस्तु गरभो भ्रूणो, इति हेमचन्द्रः) ३. "नदीप्रवाह"।

पूर्णानना कथं कथमपि तौ पिटकशायिनौ कृतवती। मृदुलतर-पिचुरचितप्रोन्नतशय्यायां[1] श्लक्ष्णकोमलस्यानयोर्वपुषो वेदना तु न भविष्यतीति सम्यक् साम्यमापादयति। आयुःशेषतया चेदिमौ प्राप्तवयस्कौ भविष्यतः अभ्रचित्रन्यायेन[2] मदीयनयनाऽयनमप्यवतरि-ष्यतश्च[3] तदा कथमेनावुपलक्षयिष्येऽहमिति[4] विचार्य प्रत्यभिज्ञायै पृथक्-पृथक् तयोस्तनुतरकरशाखायां "कुबेरदत्त-कुबेरदत्तेति" नामा-ङ्कितमङ्गुलीयकं निक्षिप्य पुनस्तन्मुखमवलोकते।

(इतः समागता भृशमुपालभमाना कुट्टनी) "मुग्धे नन्दने ! किं मौढ्यात् समयाकरोषि ? दृढं पिधेहि पिधानेन पिटकं दत्वाचाङ्कुटं[5] तालके तालिकां देहि, निधेहि च तालिकामप्येकस्मिन् पार्श्वे पिटक-स्य"। (निःश्वस्य) किं समयाकरोमि, माता भूत्वापि.......सशब्द-माक्रन्दितुं लग्ना। धिङ् माम्, धिङ् माम्।

इतः क्रूराशया कुट्टनी स्वहस्तेन झगिति पिटकं पिधाय यथोचितं च सज्जीकृत्य स्वयं प्रवाहयितुं मातृप्रेम्णा सार्धं गता, वेगवति प्रवाहे मानवतया सह निःशङ्कं प्रवाहिता च।

प्रभवः—हा ! हा ! अनिष्टमनार्यजुष्टमाचरितम् (रणरणकेन) ततस्ततः किम् ?

जम्बूः—"अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षित" मित्युक्तिं सत्यापयत्तत् पिटकं कूलङ्कषापूरे[6] प्लववत् तरत्, जगज्जन्तुवन्निम्नोन्नतदशामासा-दयत्, नाहं भविष्यामि शिशुहत्यपातकीति विचिन्तयदिवावर्तैरावर्तितं निमज्जदपि पुनःसह सैवोपर्यागच्छत्, करुणार्द्रहृदयमिव पिधानद्रढिम्ना-भ्यन्तरे पानीयमप्रवेशयत् शौर्यपुरपरिसरमाससाद। स्नानार्थमागतौ कौचन द्वौ नागरिकौ वीचि[7]-निचयैराहन्यमानं सवेग वहमानं पिटकं दूरादेव दृष्ट्वाऽहपूर्विकया तद् गृहीतुकामौ त्वरया तरङ्गिण्यां पतितौ ममेदं ममेदमिति जल्पाकौ साकमेव संतीर्य तत्सदेशमापन्नौ अर्धार्धभाग-भाजौ च भूत्वा वहिरानीय लघून्मनायमानौ तदुद्घाटयामासतुः ! स्मेराननं पोतद्वैतं निभाल्य विस्मयमानौ स्मयमानौ प्रोचतुः—

---

१. कार्पासतूलरचित" २. यथाऽभ्रेषु आकस्मिकानि चित्राणि भवन्ति तद् वद यत किमपि जायते तत्राऽयं न्यायः संगच्छते। ३. नयनमार्गम

रोती हुई, ज्यो-त्यों उन्हें पेटी मे सुला दिया। अत्यन्त मृदु और उन्नत रुई की शय्या मे उनके नवनीत कोमल शरीर को वेदना न हो जाए इसलिये वह उस शय्या को संवार रही थी। यदि वे अपने आयुष्य बल से जीवित रह कर प्रौढ़ होकर मेरे नयन-पथ पर 'अभ्रचित्रन्याय' से अनायास ही अवतरित होगे तो मैं इन्हे कैसे पहचान सकू गी, यह विचार कर उनकी पहचान के लिए उसने उनकी छोटी अंगुलियो में एक-एक अंगुठी पहना दी। उन अंगुठियो पर 'कुवेरदत्त-कुवेरदत्ता' यह नाम अंकित था। इतना कर वह पुनः उन्हे देखने लगी।

(इधर उपालंभ देती हुई वेश्या की माता आई) उसने कहा—भोली वेटी ! तू अपनी मूर्खता से समय क्यो गंवा रही है। पेटी के ढक्कन को दृढता से ढंक कर ताला लगा और उसकी चावी पेटी के एक ओर बांध दे। निश्वास छोड़ती हुई वैश्या ने कहा—क्या मैं समय को व्यर्थ गंवा रही हूं। मा होकर भी·······वह जोर जोर से रोने लगी-मुझे धिक्कार है, मुझे धिक्कार है।

निर्दय हृदय वाली वेश्या की माता ने तत्काल अपने हाथो से पेटी को वन्द कर उसकी यथोचित सज्जा कर मातृप्रेम के साथ उसे वहाने के लिए नदी पर ले गई और मानवता के साथ साथ निःशंक रूप से उसे वेगवती नदी मे वहा दिया।

प्रभव ने कहा—हा ! हा ! अनिष्ट हुआ, अनार्योचित आचरण किया, और उत्कण्ठा से पूछा—आगे क्या हुआ ?

जम्बू ने कहा—'भाग्य अरक्षित की भी रक्षा कर लेता है। इस उक्ति को सत्य करती हुई वह मञ्जूषा नदी के प्रवाह मे प्रवाहित होती हुई नौका की तरह तैरती हुई, संसार के जीवो की तरह ऊँची-नीची दशा को प्राप्त करती हुई—मैं शिशु-हत्या से पापिनी न वन जाऊँ—'यह सोचकर आवर्तो मे डूवती-डूवती भी ऊपर आती हुई और दयार्द्र हृदय वाली वह पेटी ढक्कन की दृढ़ता से अन्दर पानी का प्रवेश न कराती हुई शौर्यपुर की सीमा पर जा पहुंची। दो नागरिक नदी के तट पर स्नान करने के लिए आये थे। उन्होने तरंगो से प्रताड़ित अति वेग से प्रवाहित होती हुई पेटी को दूर से देखा और उसको लेने के लिए शीघ्रता से नदी मे कूद पडे। यह मेरी है,

---

४. "पहचानू गी" इति भाषायाम् ५. "अङ्कोडो-कूंडो" इति भाषायाम् ६. नदी-पूरे ७. तरङ्गसमूहैः।

एकः—"शोकजन्याभिः कन्याभिस्तु संकटं प्राङ्गणं मे वर्त्तते, परं न नन्दनावाप्तिरद्यावधि संजाता। अहह! दयनीयदशे मयि दैवेना ऽद्वितीया दया व्यधायि यदनायासं वंशभानुः समर्पितः"।

अपरः—"उपर्युपरि जातै स्तातैस्तु[1] संकुलं मे कुल संजातं परमे-कापि प्रेमलता पुत्री नाधिगता। अत्यर्थं मे कलत्रं विषीदतितरां यत् कथं सत्वरं गृहचत्वरं ममोद्वाहितं स्यादिति। तुष्टाऽद्य कुलदेवता चिरं पर्युपासिता मे।' मान्तराले कोऽपि प्रत्यूहकृत् समागादिति त्वरमाणौ परस्परमरचितविशेषपरिचयौ प्रथमः पुत्रम्, परः कन्यां समादाय संगूह्य च द्राग् गृहीतमार्गौ गमनागमनसंकुले महापथे विलीनौ। मुद्रिकानुसारतः प्राप्तनामानावुभावपि शिशू सुखेन लालितौ पालितौ तत्र तत्र वृद्धिं नयेते। अहो अकलनीयकलं भाविबलम्।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये

पञ्चम : प्रकाश :

---

१. पुत्रैः, (पुत्रार्थेऽपि तातशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते)

यह मेरी है—यह कहते हुए दोनों एक साथ उस पेटी के पास पहुंचे और आधा-आधा भाग लेने की वात तय कर उसको खोला। मुस्कराते हुए दोनों वच्चों को देखकर एक ने आश्चर्य से कहा मेरा— 'गृहाङ्गण कन्याओ से संकीर्ण है परन्तु आज तक भी वेटे की प्राप्ति नही हुई। अहह! भाग्य ने मुझ दयनीय पर दया की है और अनायास ही इस वंश सूर्य को मुझे दिया है।"

दूसरे ने कहा—मेरा घर लड़को से संकीर्ण है, परन्तु एक भी प्रेमलता पुत्री नही हुई। मेरी स्त्री सदा विषाद करती है कि मेरा गृहाङ्गण कव विवाहित होगा? आज मेरी उपासना सफल हुई है, कुलदेवता मुझ पर प्रसन्न हुए हैं। कोई दूसरा व्यक्ति वीच मे उपद्रव पैदा न कर दें—यह सोच आपस में परिचय किये विना ही प्रथम व्यक्ति ने पुत्र लिया और दूसरे ने कन्या। वे दोनो छुपाते हुए गमनागमन से संकुल राज पथ पर विलीन हो गए। अंगुठी के अनुसार उनके नाम रखे गए और वे शिशु सुखोचित लालन पालन से वढने लगे। भावी का सामर्थ्य अकलनीय है।

पांचवां प्रकाश समाप्त

★ षष्ठः प्रकाशः

भार्या—भवद्भिः किमपि नहि चिन्त्यते यन्मम परमवल्लभा कुबेरदत्ता यौवनारूढा वर्त्तते। समेऽपि परिजनाः समुत्सहन्तेऽस्याः पाणिग्रहणं द्रष्टुं ममान्तःकरणमपि। दैवोपनत एक एव सुन्दरोऽवसरः समुल्लसतितरां नः, कथं विलम्ब्यते भवता, न ज्ञायते।

पतिः—भद्रे! नाहमस्मिन् कर्मण्युदासीनोऽस्मि, प्रत्यहं परःशतान् प्राप्तवयस्कान् अनया दृष्ट्या विलोके, किन्तु मत्परमप्रियायाः पुत्र्याः कमप्यनुगुणमनुरूपं च नावगच्छामि[1]। त्वरया यस्मै कस्मैचित् पांशुलपादाय तु न दातुं शक्यते। किञ्च-मातापित्रोरिदमेवास्ति कर्त्तव्यम् यद् वरयितरि[2] सुगुणसप्तक निभाल्य निरीहतया[3] कन्यादानं कार्यम्। ये पितरः स्वकीयां स्वार्थसिद्धि लक्ष्यीकुर्वाणः जराजीर्णाय दुराचीर्णाय खञ्जत्वकुण्टत्वादिदोषदुष्टाय अनुचितवयसे भीषणरोगग्रस्ताय च वितरन्ति दुहितरं किं ते पितरः सन्ति यदिवा प्रत्यवस्थातारः[4]? हितैषिणः सन्त्युत विद्वेषिणः? नाहमीदृशं स्रष्टास्मि, किन्तु मदङ्गजां सुयोग्यं भोक्तारमुपस्थाप्य स्वीयकर्त्तव्यानृण्यं द्रष्टास्मि। अनुमिनोति मेऽन्तःकरणमपीदं यदस्या भागधेयेन स्तोकैरेवाहोभिर्मन्मनोरथः सार्थक्यं नेष्यतीति।

पत्नी—इदं तु वहु वरेण्यम्, किन्तु त्वरणीयम्।

हा! अगम्या दैवी गतिः! अनभिज्ञतयाऽस्य जन्तोः किं किमघटितं न जाघटीति? अवलिप्तानां कथमयमवलेपः संगच्छते यत्ते वास्तविकीं

---

१. नावबुद्ध्ये २. धवे ३ निःस्वार्थबुद्ध्या ४. अतिनिकटतरः (चिंतनीयम्)

✶ | छठा प्रकाश

भार्या ने कहा—"मेरी परम प्रिय पुत्री कुवेरदत्ता यौवन मे पदार्पण कर चुकी है, आप इसकी कोई चिन्ता ही नही करते। समस्त कुटुम्बी इसके विवाह को देखने के उत्सुक है। मेरा अन्तःकरण भी उसके पाणिग्रहण को देखने के लिए लालायित है। भाग्य से ही हमे यह सुन्दर अवसर मिल सका है, फिर भी न जाने आप इतना विलम्ब क्यो करते है ?"

पति ने कहा—'प्रिये ! मैं इस कर्तव्य मे उदासीन नही हूँ। प्रतिदिन सैंकड़ो युवको को इसी दृष्टि से देखता हूँ किन्तु मेरी प्रिय पुत्री के अनुरूप कोई वर मिलता ही नही; वैसे रास्ते में चलते किसी राहगीर को तो पुत्री नही दी जा सकती। क्योकि माता पिता का यही कर्तव्य है कि वे कन्या के वर में सात गुणो को देख कर कन्या का विवाह करें। जो माता पिता अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये वूढ़े, दुराचारी, लूले, लंगड़े, विपरीत वय वाले अथवा भीषण रोगों से ग्रस्त वर के साथ अपनी पुत्री का विवाह करते है क्या वे माता-पिता हैं अथवा दुश्मन है ? वे हितैषी है अथवा शत्रु ? मैं ऐसा नही करूंगा। किन्तु मेरी पुत्री को योग्य वर के हाथो सौप कर अपने कर्त्तव्य से उऋण होऊंगा। मेरा अन्तःकरण भी यही कहता है कि कुछ ही दिनो मे इसके भाग्य से मेरा मनोरथ सफल होगा।'

पत्नी ने कहा—"यह तो वहुत अच्छा है, किन्तु शीघ्रता करनी चाहिए।'

हा ! भाग्य की गति अगम्य है। अनजान में ही इस प्राणी के जीवन मे

स्थितिमपि यावन्न संविदन्ति । प्रभव ! किमत्र प्रवर्त्तते तन्निशमनीयम् ।

प्रभवः—बाढम्, दत्तावधानोऽस्मि ।

पतिः—प्रिये ! फलितो मे मनोरथकल्पतरुः । प्राप्तः सकलकलाकलित· पुत्र्यनुरूपी वरः। तत्पित्रा सहवार्त्तापि निश्चिताऽभूत्, मौहूर्त्तिकैश्च मुहूर्त्तोऽपि नेदीयो न्यवेदि । अतः सर्वा समुचिता वैवाहिकी सामग्री सत्वरमेकत्रीकरणीया ।

पत्नी—एवम् । बहुवरं-बहुवरम्, भवतां शुभ· संकल्पः सपदि फलभारभ्राजिष्णु भूयादित्येव मे मनोभावना ।

आगतं[1] झगित्येव निर्णीतं दिवा । परिजनैः सङ्कटमभूत्पितुः[2] प्राङ्गणम्, आयाता साटोपं वरयात्रा, जातश्च गगनभेदिभिर्वाद्यातो[3]-द्यनिनादैः कोकिलकण्ठीनां सुमधुरगीतैर्वाडवानां[4] सुस्पष्टमन्त्रोच्चारणैश्च सह पाणिग्रहणविधिः । वध्वा सार्धं सुदायमादाय[5] प्राप्तः स्वस्थानं वरयिता । अनुरूपवयस्कौ दम्पती निभाल्य भृशं मुमुदिरे समेऽपि दायादाः । क्षणा इव तयोर्वैषयिक सुखमनुभवतोर्दिवसाः पलायाञ्चक्रिरे । वपुर्द्वैधमादधतोरपि प्रेम त्वेकाङ्गीभूतं समजनि । अहमहमिकयेव जायापत्योर्मनः स्वं स्वं पूर्णभाग्यजुषं सोसूच्यमानं कोऽहं केयमिति, काहं कोऽयमिति न कदाप्याशशङ्के परस्परम्, परन्तु साशङ्कं भविष्यत् किं कि कल्पयतीति श्रोतव्यम् ।

अथान्यदा जम्पती सज्जितशयनागारे स्मेराननौ शारिका[7]-देवनैर्दिव्यतः[8] स्म । अकस्मादेव तयोरितरेतरां दृष्टिरङ्गुलीयक[9]-दर्शनोन्मुखी संजाता । तस्याङ्गुलीयकस्याकारसाम्यं वर्णसारूप्यं-कुबेरदत्तः-कुबेरदत्तेति केवलस्त्रीपुंस्त्वभिदाभिन्नमभिधानसामान्यं च निभाल्य सहजातयोर्भ्रात्रोरिव देहाकृतिवर्णवयःप्रभृतीनां तुल्यकक्षां लक्ष्यीकृत्य च भ्रान्तमिव स्वान्त, वैवर्ण्यभाग्[10] वदनमपि च संजातम् ।

---

१. आगतं झगित्येव निर्णीत दिवा = "(क्रियाऽन्ययविशेषणे", इति लिङ्गानुशासनात् अव्ययविशेषणे नपुंसकत्वम्) २. संबाधम्, (समौ संबाध संकटौ, इति हेम०) ३. "वाद्यम्" ४. विप्राणाम्, (भूदेवो वाडवो विप्रो, इति हेम०) ५. यौतकम् ! 'दहेज' इति भाषायाम् (यौतकं युतयोर्देयं, सुदायो हरणं

क्या क्या नही हो जाता ? जब तक वास्तविक स्थिति को नही जानते तब तक उन मनुष्यों के अहंकार का क्या मूल्य है ?

'प्रभव ! वह कैसे होता है—यह सुनो ।'

प्रभव ने कहा—'हाँ ! मैं दत्तचित्त हूं ।'

पति ने कहा—'प्रिये ! मेरा मनोरथ आज फलित हुआ है। पुत्री के अनुरूप ही सकल कलाओ से पूर्ण वर मिला है। उसके पिता के साथ बात भी निश्चित हो गई है। ज्योतिषियों ने विवाह का मुहूर्त भी अत्यन्त निकट बतलाया है। इसलिए विवाह की समस्त सामग्री शीघ्र ही एकत्रित करनी चाहिए ।'

पत्नी ने कहा—''यह बात है ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ! आपका शुभ संदेश शीघ्र ही फलवान् हो यही मेरी मनोभावना है।'

विवाह का निर्णीत दिन भी शीघ्र ही आ गया। पिता का घर परिजनो से संकीर्ण हो गया। सज-धज कर वर-यात्रा भी आ गई। भेरी और अन्य वाद्य यन्त्र बजने लगे। स्त्रियो के मधुर गीतो से सारा वातावरण गूंज उठा। ब्राह्मणो के सुस्पष्ट मंत्रोच्चारण के साथ विवाह-विधि सम्पन्न हुई। वर अपनी वधू के साथ दहेज को लेकर अपने घर आ गया। अनुरूप अवस्था वाले दम्पति को देख कर सभी कुटुम्बी बहुत ही हर्षित हुए। इन्द्रिय-जन्य सुखो को भोगते हुए उनके दिन क्षण की तरह बीतने लगे। शरीर से वे दो होते हुए भी प्रेम से वे एक थे। दोनो अपने अपने भाग्य की सराहना करते थे। कभी पति ने यह आशंका नही की कि मैं कौन हूँ या यह कौन है ? और न कभी पत्नी ने ही यह आशंका की कि मैं कौन हूं या यह कौन है ? किन्तु भविष्य क्या-क्या कल्पना करता है यह भी सुनो ।

एक बार वे हंसमुख दम्पति अपने सज्जित शयनागार मे चोपड़ खेल रहे थे। अकस्मात् ही दोनों की दृष्टि अगुलियो मे पहनी हुई अंगूठी पर पड़ी। उन्होने देखा कि दोनो की अंगूठिया वर्ण और आकार में समान है उन पर अंकित कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता यह—नाम भी समान है, केवल

च तत्, इति हेम०) ६. जायापत्यो.—दम्पत्योः (जम्पती दम्पती जायापती भार्यापती समाः, इति हेम०) ७. 'सारिपाशो से' इति भाषायाम् ८. क्रीडतः स्म ९. मुद्रिका १०. मलिनत्वयुक्तम्

स्वगतं पतिः—किमेषा पत्नीत्वमाभेजाना मदीया सहजा जामिः[१] ? हा ! हन्त ! कथं हृत्साक्ष्यं ददातीति चिन्त्यम् । तथैव पत्न्यपि भ्रातृशङ्काकुला सव्रीडं क्रीडामपहाय श्वशुरसदनमप्येकपदे विरहय्य पितुर्धाम चागम्य स्वजननोदन्तपृच्छनप्रह्वाऽभवन्मातुरग्रतः–"मातः ! शपथपूर्वकं त्वां पिपृच्छिषामि, यदहं तवौरस्या[२] पुत्री, आहो कुतश्चित्करायत्ती कृता ? न गोप्यमीषदपि भवत्या, यज्जातं तदेव व्यञ्जनीयम्" ।

माता पुत्रि ! कथमद्य सहसैव श्वशुरसदनादत्रागतवती ? स्फुरद्हास्यं तवास्यं[३] कथमद्य कालिकाकलितं[४] विलोक्यते ? जाते ! किमु तेऽद्य दृग्भङ्गी कान्दिशीककुरङ्गीदशामापद्यते ? कथमहो ! तावकीना माधुर्यधुर्यापि वाणी वेपथु[५] प्रथमाना श्लथतेतमाम् । दुहितः ! स्वभावकोमले तेऽन्तःकरणे कौतस्कुतोऽयं[६] पर्यनुयोगः[७] यदहं तवौरसी पुत्रीति । सस्मितं शिरसि करं विन्यस्यन्ती सवित्री—किंकिल व्यलोकि त्वया कोऽपि दृग्भेद कर्ह्यप्यावयोर्वर्तने ? खण्डितः कोऽपि कदा बाल्यकालिकस्तवाग्रहः ? निभालितं नैयून्यं किमुत पाणिपीडन-प्रसङ्गे व्ययस्य ? यौतके वैयात्यं[८] व्यलोकि किमु पितृमानसस्य ? सर्वेषां पुत्राणामुपरि वर्त्तमाना सर्वप्रेयसी त्वमेकाकिनी पुत्री । तवेदं सकलं गृहम्, यद् युज्यते तद् गृहाण, मेषदपि संकोचं च कृथा, वृथा सन्देहमपि ।

वाष्पाकुलनयना पुत्री जनयित्री प्रति भग्नस्वर ब्रूते—"मातः ! तव लालने पालने च सूक्ष्मापि कापि क्षतिर्नहि निरीक्षिता मया । तवाङ्क-क्रीडादिवसान् त्वत्कृतान् मधुरालापांश्च स्मारं-स्मारं रोमाञ्च-कञ्चुकिता भवामि । अम्ब ! त्वत्सदृशी त्वमेव वर्त्तसे,-कदापि किमप्य-नुचितमाचरन्ती पित्रा प्रेम्णैव भापिता चेदहम्, तदानीमेव मत्तस्त्वं[९] जातवती, मत्पितरमप्यरुणीभूय प्रत्युक्तवती—"अलमलं मे प्राणप्रियां पुत्रीं भापयित्वा" । रोरुद्यमानाहमावश्यककार्यशतकमप्यपहाय तत्काल-मुरोजोपपीडमाश्लिष्टा । जननि ! परमाह्लादजननी त्वमेव वेविद्यसे । वयःस्थयापि मया न न्यध्यायि कापि तुच्छताच्छविस्ते छत्रच्छायायाम्,

---

१. भगिनी, (जामिस्तु भगिनी स्वसा, इति हेम०) २. उदरोद्भवा ३. मुखम् (तुण्डमास्यं मुखं वक्त्रमिति हेम०) ४. श्यामायमानम् ५. स्वरे

इसमें पुंल्लिग और स्त्रीलिंग की भिन्नता है। एक साथ उत्पन्न हुए भाई-बहिन की तरह अपने शरीर की आकृति की समानता, वर्ण और अवस्था आदि की समानता को देखकर उनका मन भ्रान्तियो से भर गया। उनका मुँह कुम्हला गया। (पति ने अपने मनमे सोचा) क्या पत्नी बनी हुई यह सगी बहिन तो नही है? हा! हन्त! मेरा हृदय साक्षी क्यों दे रहा है? इसी प्रकार पत्नी का मन भी भाई की आशंका से भर गया। वह लज्जित होती हुई, क्रीड़ा को छोड़कर श्वसुरालय से पिता के घर आ गई। उसने मा से अपने जन्म की बात पूछी—'मां! मैं सौगन्ध पूर्वक तुझे पूछती हूं क्या मैं तेरे कुक्षी से जन्म लेने वाली पुत्री हूँ अथवा तू ने मुझे कही से पाया है? तू कुछ भी मत छुपा जो हुआ है वही कह।'

माता ने कहा—'पुत्री! तू अपने श्वसुरालय से सहसा ही यहाँ क्यो चली आई? सदा मुस्कराता हुआ तेरा मुख आज काला क्यों दीख रहा है? पुत्री! आज तेरी आँखो की भंगिमा डरी हुई हिरणी की भांति क्यो हो रही है? अहो! तेरी मधुर वाणी भी आज कम्पित क्यों हो रही है? बेटी! स्वभाव से ही कोमल तेरे अन्तःकरण में यह कैसा प्रश्न कि 'मैं तेरे उदर से उत्पन्न हुई पुत्री हूँ या नही?' (माथे पर हाथ रखते हुए माता ने कहा) क्या तू ने कभी हमारे बर्ताव मे कोई भेद देखा है? क्या हमने कभी तेरे बाल-हठ को तोड़ा है? क्या विवाह के समय खर्च मे कोई न्यूनता देखी है? क्या दहेज देने में तेरे पिता ने कृपणता की है? सभी पुत्रो से अति प्यारी तू मेरी एकाकी पुत्री है। यह सारा घर तेरा है। जो कुछ चाहिए वह ले जा। तू थोड़ा भी संकोच या संदेह मत कर।'

आँखो मे आँसू भर, भग्न स्वर से पुत्री ने माता से कहा—'मां! तेरे लालन-पालन में मैंने थोड़ी भी क्षति नही देखी। तेरी गोद मे खेलने वाले उन दिनो को तथा मधुर आलापों को याद कर मैं रोमाञ्चित हो उठती हूँ। मां! तेरे जैसी तू ही है। जब कभी मै अनुचित आचरण करती और पिता मुझे प्रेम से डराते तो उसी समय तू मेरा पक्ष लेती। मेरे पिता पर लाल होती हुई तू कहती—'बस, बस मेरे प्राण प्रिया पुत्री को डराने धमकाने से हो चुका।'—और सैकड़ों कार्यों को छोड़कर भी तू मुझे छाती से लगा लेती। जननी तू ही परम आल्हाद देने वाली है। अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी

कम्पस्तु वेपथुः इति हेम०) ६. कुतः कुतः आगत इति कौतस्कुतः ७. प्रश्नः ८. धार्ष्टचम् (वियातो धृष्णुधृष्णजो इति हेम०) ९. मत्पक्षे (व्याश्रये तसुः)

पुत्री—कथं कथं मातः ?

माता—किं कृत्स्नमपीतिहासं शुश्रूषसे ?

पुत्री—ओम्, ममान्तःकरणमत्यन्तमुन्मनायते ।

माता—तर्हि श्रृणु, एवं कथित्वा आद्योपान्तं सर्वं व्यतिकरं प्राचीकटत् ।

पुत्री—खलु सत्यमिदं मातः ? प्रत्येति मे प्रतीतिरपि, किन्तु महाननर्थो जज्ञेऽनभिज्ञतया । हा ! हा ! विचित्रा दैवी घटना, इत्थं विमनायमाना भुवं खनितुं लग्ना ।

माता—नावसीयते किं निदानं ते मुखकमलं म्लायतितराम्, परिस्फुरत्सौख्ये किमु दु.खायते[1] ते स्वान्तम् ?

पुत्री—जात सकलसौख्येन, स्फुटितं भागधेयेन मे, हन्त ! किं जीवनमल्पज्ञानाम् ! किं सुखमज्ञानिनाम् ! कथं मुखं दर्शयामि ? म्रियेऽधुनैवाहम् ।

माता—किमघटितमजनिष्ट, किं केनापि वञ्चिता तिरस्कृता वा ? किमु पत्युः सकाशात्पराभवमाप्ता, पत्युः पित्रा मात्रा वा ? उत, पितृपक्षीयैः कैरपि ?

पुत्री—नहि केनापि व्यक्तिविशेषण पराभूता, किन्तु स्वकर्मणा । हन्त ! न कथं भूमिर्द्वैधमावहति यथा तदन्तः प्रविशामि । जननि ! ममाऽजननिर्न कथं जाता ? इत्थं भृशं परिदेवनपराऽनास्तृते भूतले रुग्णेव झगिति निपतिता ।

क्लेशावेशेन शेमुषीह्रसिमान[2] मानयन्ती मातापि किं जातमिद-मित्यूहमाना शोकसागरे निमग्ना । क्षणानन्तरं धैर्यमवलम्व्याऽविलम्ब स्वसुतां साग्रह दुःखात्मकं व्यतिकरं पृष्टवती । क्षरद्वाष्पधारा-स्नपितकपोलाऽलोलाक्षी सुता सर्वमघटित भ्रात्रा सम दाम्पत्यसम्बन्धं सगर्हं सूचयाञ्चकार । का मादृशी पापीयसी भाविनीति जल्पाकी वराकी मोह[3]मासाद ।

स्वगतं माता—हा ! हा ! किमिदमवद्यं जातम् ! हन्त ! कथमस्याः वप्त्राऽनालोचित[4]मिदमाचरितम् ? रूपवयःसारूप्येण तु मदन्तःकरण-

१. दुःखं वेदयते २ बुद्धिमान्द्यम् ३. मूर्च्छाम् ४. पित्रा

पुत्री ने कहा—'मां ! यह कैसे ? यह कैसे ?'

माता ने कहा 'क्या तू सारा वृत्तान्त सुनना चाहती है ?'

पुत्री ने कहा—'मेरा अन्तःकरण उसे सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक है।'

माता ने कहा—'तो सुन', यह कह सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया।'

पुत्री ने कहा—'हा, यह सत्य है मां ! मेरी प्रतीति भी यही कह रही है। किन्तु अनजान मे ही महान् अनर्थ हो गया। भाग्य की गति विचित्र है—इस प्रकार विमनस्क होती हुई वह पृथ्वी को कुरेदने लगी।'

माता ने कहा—'मैं नही जानती इसका क्या कारण है कि तेरा मुख-कमल म्लान हो रहा है और सुख के उत्कर्ष मे भी तेरा अन्तःकरण दुःख का अनुभव कर रहा है।'

पुत्री ने कहा—'वहुत हो चुका, मेरे सुखो से, हन्त ! मेरा भाग्य फूट गया। अल्पज्ञों का कैसा जीवन ? अज्ञानियों का कैसा सुख ? मैं कैसे मुँह दिखाऊँ ? आज ही मैं मर जाऊँ ?'

माता ने कहा—'वेटी ! क्या कोई अघटित घटना हुई है ? क्या किसी से तू ठगी गई है अथवा तिरस्कृत हुई है ? क्या पति श्वसुर अथवा सास ने तुझे पराभूत किया है ? अथवा पितृ-पक्ष वाले ने ही कुछ कहा है ?'

पुत्री ने कहा—'मां ! किसी के द्वारा भी मैं पराभूत नही हूँ केवल अपने कर्मो से ही मैं पराभव का अनुभव कर रही हूँ। हन्त ! पृथ्वी क्यो नही फट जाती जिससे कि मैं उसमें प्रविष्ट हो सकूं ! मां ! मेरा जन्म ही क्यो हुआ ? इस प्रकार वहुत विलाप करती हुइ रुग्ण की तरह भूमि पर शीघ्र ही गिर पड़ी।

यह क्या हुआ ? वह तर्कणा करती हुई क्लेश के आवेश से सोचने मे असमर्थ माता भी शोक के गहरे सागर में डूव गई। क्षणभर मे धैर्य को संजोकर शीघ्र ही अपनी पुत्री से दु:ख का वृत्तान्त पूछा। पुत्री के आंखों से झरने वाले आंसुओ से कपोल भीग गए थे। उसने सारी घटना कह सुनाई और भाई के साथ हुए दाम्पत्य सम्वन्ध की वात भी गर्हा सहित कह दी। मेरे जैसी पापिनी कौन होगी—यह वोलती हुई वेचारी मूर्च्छित हो गई। मां ने मन ही मन सोचा—'हा ! हा ! यह क्या दुर्घटना हुई ? हन्त ! इसके पिता ने विना सोचे ही यह कार्य कैसे कर डाला ? हा, अवस्था और रूप के सारूप्य से तो मेरा अन्तःकरण भी शंकित था। किन्तु मैंने यही सोचा कि

नूनं परित. प्रसृमर[1] सुखमन्वभावि। स्नेहग्रथिला भ्रातरोऽपि देवीव मां मम्मन्यमाना: अर्हयामासु:[2]। भ्रातृजायानां स्नेहस्तु शुक्लपाक्षिक-शशाङ्क इवाऽहरह. परिवर्धित एव न्यदर्शि। प्रसू· ! विवाहविधि-निर्वाहस्तु यस्त्वया व्यधायि स केषामपि नाविदित: ? किन्तु मदीया पृच्छा तु यादृच्छिकी नास्ति अस्तिहेतुकां[3] तोकावलम्बिनीं शङ्का-मादधाना, किं त्वदुदरशायिनी सत्यमेव सार्धनवमासानहमभवम् ? शपथपूर्वकमाख्याहि नि.संकोचमम्ब ! न त्वं भद्रङ्करी दोषाकरा भवित्री।

विस्मयस्मेरानना पुनरपि जननी प्रवक्ति—किमसकृत् तामेव पिपृच्छिषां न जहासि, पाकवदात्तहेवाका तदेव पुन· पुनारटसि वद, क देव शपथीकरोमि। शृणु, नूनमुरस्यप्रसूतिमप्यतिरिच्यमाना परम-प्रेमप्रथिष्ठा पुत्री त्वमसि, किं मसिना[4] लिखित्वा वितरामि ?

पुत्री—मात. ! नाय हास्यावसर:, अत्र किमप्यत्यन्ताऽनुचितं विलसति, उरस्याधिकाऽस्मीति नारेक:, किन्तु स्वजातास्मि न वा ? इति जल्पन्ती कामप्यदृष्टपूर्वां विषादभङ्गी तरङ्गयन्ती भूतलबद्ध-लोचना समजनि।

(स्वगत माता परामृशति) "किं जातमद्यास्याश्चेतसि ? ध्रुव-मतृतीय"वेद्योऽय भेद.केन दुर्विधिना प्राकट्य नीत: ? बहुबोधितापि नैषा मदीयां वाचं प्रत्येति। अथवा कृतकर्तव्या वय स्म., साम्प्रतं मन्त्र-प्रकाशे किमप्यसाम्प्रतं[5] नावगच्छामि, प्रकाशयामि खलु यथाजातं वृत्तान्तम्" इति विचार्य सुतां सस्नेहं मस्तके स्पृशन्ती सवित्री वक्तु लग्ना "आत्मजे ! नोरीकरोषि यदि मदीय कथनं तर्हि सत्य-माकर्णय, त्वमस्मदीया दैवी पुत्री जठरशायिकां न प्राप्यापि क्रोड-शायिनी संवृत्ता।

---

१. प्रसरणशीलम् २. पूजयामासु: ३. अस्ति हेतुरस्या: सा ताम्,

मैंने तेरी छत्रछाया में थोड़ा भी कष्ट नही पाया, किन्तु सदा सुख का ही अनुभव किया । स्नेह-ग्रथिल मेरे भाई भी मुझे देवी की भांति मानते थे। भाभियो का स्नेह तो शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाति प्रतिदिन बढ़ता ही रहा । मां ! जो विवाह विधि का निर्वाह तूने किया है वह किन्ही व्यक्तियो से छुपा नही है। किन्तु मेरे पूछने का यह तात्पर्य नही है। मेरी शंका उत्पत्ति के विषय मे है और सहेतुक है। क्या मै तेरे उदर से उत्पन्न हुई हूँ ? क्या मैं तेरे उदर मे साढे नौ माह रही थी ? शपथपूर्वक और नि संकोच पूर्वक तू मुझे बता। माँ ! तू सदा कल्याण करने वाली है, दोष करने वाली नहीं होगी।'

आश्चर्य से पुनः माता ने कहा—'क्या तू अपने प्रश्न को नही छोड़ेगी ? बालक की तरह हठ करने वाली पुनः उस बात को दोहरा रही है। किस देवता की शपथ लूं । सुत कुक्षी से उत्पन्न होने वाली पुत्री से भी तू मुझे अत्यन्त प्रिय है। क्या मैं यह स्याही से लिख कर तुझे दूं ।'

पुत्री ने कहा—'मा ! यह हास्य करने का अवसर नही है। यहां कुछ अनुचित हो रहा है। उदर से उत्पन्न पुत्री से भी मैं अधिक प्रिय हूँ, यह सच है। किन्तु मैं तेरी कुक्षी से उत्पन्न हुई हूं या नही ? यह कहती हुई वह अभूतपूर्व विषाद भंगी को दिखाती हुई नीचे देखने लगी (मा ने अपने मन ही मन सोचा) आज इसे क्या हो गया है ? हम दो व्यक्ति ही इस भेद को जानते थे, किसने यह भेद प्रकाश में ला दिया ? बहुत कहने पर भी यह मेरे वचनों पर विश्वास नही करती। हमने तो अपना कार्य कर ही लिया है अब उस रहस्य को बताने में कोई हानि प्रतीत नही होती । मैं इसे सारा वृत्तान्त बता दूं, यह सोच कर पुत्री के माथे पर हाथ रख कर बोली—'पुत्री ! यदि तू मेरी बात नही मानती तो ले मैं तुझे-सही बात बताये देती हूँ—तू हमारे भाग्य से मिली पुत्री है, कुक्षी से उत्पन्न न होने पर भी हमारी गोद मे अवश्य खेलती रही है।'

'अस्ती' ति अव्ययेन समासः। ४. पु० स्त्री। ५. जो दो व्यक्ति ही जानते हो, इति भाषायाम् ६. अनुचितम्

मपि जातु विचिकित्सितमभूत्[१] किन्तु भूरिसौभाग्यभ्राजिष्णुरियं यदनुरूपं धवं[२] माधवं लक्ष्मी रिवाऽवृणोदितीव दर्पग्रथिलाहं नेषदपि विवेचनाचञ्चुरभवम् । सत्यं "शोककरी कन्या" इत्युक्तिर्मया मिथ्याकृतापि स्वसत्यं सत्यापयितुमिव सत्या सम्पन्ना। ईर्ष्यालुविधे ? कस्यापि सात[३] न सासहिस्त्वम्, धिक् कीदृशः क्षेत्रियोदण्डोऽ[४]दण्डनीयायै मदगङ्गजायै दत्तः ? हा ! साम्प्रतं किं भविष्यति ? कथमस्याः कुबेरदत्ताया जीवनसीमा पारदृश्वरी[५] ? बत ! कीदृक्षो वर्धितोत्साहो विवाह समजनि ? कीदृशी लोके कीर्त्तिः समुल्लसिता ? किन्तु सर्वमपि भस्मनि हुत जातम् । समागात् श्रेष्ठ्यपि विदितवृत्तान्तो विद्युदाहत इव बभूव । इत्थं सकलमपि गृहमसह्यकृच्छ्रेण व्यानशे। परितोऽन्धकारलहर्यः प्रसृमरा अभूवन् । किंकर्त्तव्यविमूढा ह्रिया[६] ह्रीणमुखा भृशमसुखा आर्त्तध्यानं समेऽपि दायदाश्च दध्युः

इतो वर्या गोचर्यां चरन्त्यः काश्चन साध्व्यः श्रेष्ठिसदनमाययुः। शोकाकुल कुलं[७] वीक्ष्य तत्कारणं च विज्ञाय कुबेरदत्तायै बोधविशदया वाचा सकृपमुपदेष्टुमारेभिरे । देवानुप्रिये ! कि मुधैव खिद्यसे ? न विन्त्से[८] त्वमद्यावधि वास्तविकं विश्वस्वरूपम् । अविदुषा मोहजुषाऽनेन सत्त्वेन किं किं प्रकाण्ड काण्डं[९] नाचीर्णम् ? किं किमघटितं घटनाचक्रं न भ्रामितम् ? वत्से ! अत्र परिवर्त्तिनि संसारे माता पुत्रीत्व, जाता च मातृत्वमाराधयेत् । पतिः पुत्रत्वम् जाया जननीत्वं चासादयेत् । भृत्या भर्त्तृत्वं भर्त्तारो भृत्यत्वं चाविभ्रियुः । किं वहुना पुण्यपापपचेलिमे[१०] भिदेलिमे भवे किं किं न जायते, न जनिष्यते च। अस्ति काप्येतादृशी योनिर्जातिः, स्थानं, कुलं च यत्राऽनेन जन्मभृता न जन्माऽधारि, नाऽकारि चाकृत्य कृत्यम् ? भद्रे ! त्वयाऽवसितमत एव त्वमर्त्तिमती जाता, यावन्न विदितं तावन्न किं मोदमेदुरा आसीः । ईदृशं चेद् भयावहं विश्वं न स्यात् तदानी त्वस्य त्यागे महान्तः कथमात्तविरागा जज्ञिवांसः[११] । अहो ! चक्रिणस्तीर्थंभृतोऽपि

---

१. संशयितम्, (विचिकित्सा च संशय, इति हेम०) २. वरयितारम्, (रुच्यो वरयिता धवः, इति हेम०) ३. सौख्यम् (क्तिप्रत्ययान्तोऽयम् तद् योगे न षष्ठी) ४. अप्रतीकार्यो दण्ड· ५. पारं द्रक्ष्यति ६. लज्जया नि।नानना· ।

यह पूर्ण सौभाग्यवती है कि इसे अपने योग्य ही पति मिला है। जिस प्रकार लक्ष्मी को विष्णु जैसा पति मिला था वैसे ही मैंने इसे समझा था। इसी गर्व से मैंने कुछ भी विचार नही किया। हा ! 'कन्या शोक उत्पन्न करने वाली होती है ?'—इस उक्ति को मैंने मिथ्या करने का प्रयास किया। परन्तु यह उक्ति स्वयं को सत्य प्रमाणित कर रही है। हे ईर्ष्यालु भाग्य ! तू किसी का भी सुख सहन नही कर सकता ! धिक्कार है तुझे, तूने मेरी अदंडनीय पुत्री को कैसा अप्रतिकार्य दण्ड दिया है। हा ! अब क्या होगा इस कुबेरदत्ता का जीवन कैसे पार लगेगा ? खेद ! कितने उत्साह से इसका विवाह किया था ? लोकों मे कैसी कीर्ति हुई थी ? किन्तु वह सब जलकर राख हो गया।' इतने में श्रेष्ठी भी वहा आ पहुंचा। वृत्तान्त सुन कर मानो वह बिजली से आहत-सा हो गया। इस प्रकार सारा घर कष्ट से व्याप्त हो गया, चारों ओर अन्धकार छा गया। सभी परिजन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए, इस अनुचित घटना से लज्जित होते हुए आर्त ध्यान करने लगे।

इधर कई साध्विया भिक्षा के लिए भ्रमण करती हुई श्रेष्ठी के घर मे आई। सारे घर को शोकाकुल देख कर, उसके कारण को जान कर कुबेर-दत्ता को कृपा भाव से उपदेश देना प्रारम्भ किया। उन्होने कहा—"देवानु प्रिये ! क्यो व्यर्थ ही खिन्न हो रही है ? तू आज तक भी विश्व के वास्तविक स्वरूप को नही जानती। इस अज्ञानी जीव ने मोह के वशीभूत होकर क्या क्या पापाचरण नही किया ?

वत्से ! इस परिवर्तनशील संसार में कभी माता पुत्री बन जाती है, कभी पुत्री माता बन जाती है, पति पुत्र बन जाता है, स्त्री जननी बन जाती है, नौकर स्वामी बन जाते हैं और स्वामी नौकर बन जाता है। अधिक कहने से क्या ? पाप मे पचने वाले इस क्षण भंगुर संसार में क्या क्या नहीं हो रहा है ? और क्या क्या नही होगा ? क्या ऐसी कोई भी योनि, जाति, स्थान या कुल है जहा इस जीव ने जन्म ग्रहण न किया हो और जहां इसने अकृत्य न किया

---

७ गृहम् ८. "विद्" विचारणे इत्यस्य धातोः रूपम् विचारयसीत्यर्थः ९. अवद्यम् (अवद्यं काण्डकुत्सिते, इति हेमचन्द्रः) १०. कर्मणि घुरकेलिमकृष्टपच्या, इति सूत्रात् पच्यते स्वयमेवेति पचेलिमम्, भिद्यते स्वयमेवेति भिदेलिमं तत्र। ११. जज्ञिरे।

कथं तपस्तेपिवांस ? सुकुमारेण गजसुकुमारेण कथं धनञ्जयजन्या[1] निष्कम्प सपत्राकृतिः सोढा ? कथ वा शालिभद्र धन्यादयो महाढ्या रमणीरामणीयक विरहयाम्बभूवुः । सौम्ये ! जहाहि जहीहि मोहं, सोऽहमित्यात्मस्वरूपं विभावय । स्वस्वरूपमन्तरा नानन्दकन्दलित-मितरत् । भौतिकवस्तुषु सुखाभासस्तु मरुमरीचिकाम्भोवीचिनिचयं-स्नानावगाहनसमकक्षतां लक्षयते । अतो भवात्मध्यानतल्लीना, शीघ्रमध्वनीना च सर्वपथीने[2] सर्वाङ्गीणे च जैनेन्द्रे पथि । शालीने[3] ! कथ नानुशीलयसि सुकृतम्, मरणं त्वद्यश्वीनं[4] वर्वर्ति, नर्नर्ति च कृतान्तस्ते शिरसि ।" इत्थं साध्वीनां साध्वीमात्मनीनामात्मभाव-दर्शिका हृत्स्पर्शिकां वाणीं सुधामिव निपीय कुबेरदत्ता स्वरूपभानं लेभे । नान्यद्धर्माहृते कल्याणकृदितीव मन्वाना भिक्षुकीभावं भजामीति कृतनिश्चया बभूव । आपृच्छ्य पितरौ स्तोकेनानेहसा[5] संयमाय श्रुतं चाभ्यस्य श्रामण्यमङ्गीकृतवती, विवर्धमानं सांवेगं वेगं श्रयमाणा घोरं तपस्तप्तवती, कालान्तरेणाऽवध्यादिप्रत्यक्षमपि च प्राप्तवती । किं दुर्लभं तपस्विनामथवा ।

इत कुबेरदत्तोऽपि स्वमातृपित्रोः सकाशात्साग्रह लब्धपूर्वचर-वृत्तान्तोऽतीवाऽपत्रपिष्णु.[6] स्वपुर हातुमना[7] अभवत् । पित्रोरननुज्ञाप्यैव ततो निस्ससार, मथुरां चागत्य सुखमुवास वित्तमुपार्जितु यथार्ह वाणिज्यं कर्त्तुं लग्नः । पुण्यपारिपाकतः स्तोकेनैव कालेन प्रभूतं विभव-मुपार्जयामास । भाग्यवता "पदे-पदे निधानानि" इत्युक्तिश्चरितार्थैव वा ।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये
षष्ठः प्रकाशः

---

१ अग्निजन्याः २. सर्वपथान् व्याप्नोतीति सर्वपथीनः ३. शारदे (ऽघृष्टे शालीनशारदौ, इति हेमचन्द्रः) ४. आसन्नम् ५. अनेहसा=कालेन

हो ? भद्रे ! तूने यह सारा जान लिया इस लिये दुखी हुई है । जब तक तूने यह नही जाना था तब तक क्या तू इसमे हर्षित नही थी ? यदि यह समूचा विश्व भयावह न हो तो महान् पुरुष इसका परित्याग क्यो करते ? अहो ! चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि ने भी तपस्याएं क्यो की ? सुकुमार गजसुकुमार ने अविचलित होते हुए अग्नि का अपार कष्ट क्यों सहा ? शालिभद्र, धन्ना आदि ने महान ऋद्धि-सिद्धि को क्यों छोड़ा ? सौम्ये ! मोह को छोड़, 'सोऽहं' इस आत्म-स्वरूप का ध्यान कर, अपना स्वरूप ही आनन्द स्वरूप है । भौतिक वस्तुओं मे होने वाले सुखाभास केवल मरुमरीचिका मात्र है। इसलिए तू आत्म-ध्यान मे तल्लीन हो और सर्वांगीण जिन मार्ग को पथिक बन जा । शालीने ! तू सुकृत का अनुशीलन क्यो नही करती ? मृत्यु अत्यन्त निकट है और तेरे शिर पर काल नाच रहा है।"

इस प्रकार साध्वियो की आत्म हितकर, आत्म-भावदर्शक, हृदय को स्पर्श करने वाली वाणी को अमृत की भांति पीकर कुबेरदत्ता को अपने स्वरूप का भान हुआ । धर्म के सिवाय और कोई कल्याणकारी नही है—ऐसा मानकर उसने साध्वी होने का निश्चय कर लिया । थोड़े ही दिनों मे साध्वी जनोचित ज्ञान का अभ्यास कर माता पिता से आज्ञा ले वह साध्वी बन गई । वैराग्य बढ़ता गया । उसने घोर तपस्या की । कालान्तर मे उसे अवधि-ज्ञान की प्राप्ति हुई । तपस्वियों के लिये क्या दुर्लभ है ?

इधर कुबेरदत्त ने भी अपना वृत्तान्त जानना चाहा । माता-पिता ने उसे सारा वृत्तान्त कह डाला । यह सुन उसे बहुत लज्जा आई और घर को छोड़ने की इच्छा कर ली । एक दिन वह माता पिता को कहे बिना ही घर से निकल गया और मथुरा मे जा सुख से रहने लगा । कमाने के लिए वहा अपनी शक्ति के अनुसार वाणिज्य करने लगा । पुण्य के परिपाक से थोड़े समय मे ही प्रभूत धन का अर्जन कर लिया । भाग्यवान् पुरुषो के लिए पग-पग पर निधान होते हैं'—यह उक्ति चरितार्थ हो रही थी ।

छठा प्रकाश समाप्त

---

६. लज्जाशील: (लज्जाशीलोऽपत्रपिष्णुरिति हेमचन्द्रः) ७. त्यक्तमना:

★ | **सप्तमः प्रकाशः**

परिग्रहग्राहगृहीतानां[1] पुंसां क्व शुभसम्भावना ? परिग्रही कमनर्थनीयमनर्थं नार्थयते ? तृणाय[2] जगन्मन्यमानो दुराशयवीचिनिचयैराहन्यमानः किमकार्यं न स्वीकुरुते ? विवर्धितपरिग्रहकूलंकषापूरपरिप्लाव्यमानान्तःकरणः कां कुलमर्यादां नोद्रुजति[3] ? कमात्मनीनमाचारं नातिचरति ? कां गुरुवचनपरम्पराभित्तिं च न भिनत्ति ? उत, सत्यमागमवाक्यम् "यत्परिग्रहः पापमूलमिति" ।

अथैकदा परिहितविशिष्टनव्यनेपथ्यः, अनर्घ्यरुचिरनानाभरणालङ्कृत तनुः, परितः परिस्फुरत्सौरभभरदन्तुरहरिदन्तरः,[4] चर्वत्ताम्बूललालालोहिताधरयुगलः, निरीक्षमाणस्वकीयप्रतिच्छायः, साक्षान्मारावतार इव कुबेरदत्तः कुबेरसेनाया उदवसितस्याग्रतः[5] परिभ्रमन् निःसृतवान् । सौन्दर्यशालिनमाढ्य युवकमालोक्य प्रकृत्या चलाचलप्रकृतिर्वृषस्यन्ती[6] वेश्या मन्मथवागुरेव[7] शीघ्रं पुरतः समागता । हावभावविलासादिलास्यं दर्शयमाना सस्मितं भणितुं लग्ना—"नाथ ! चिरं प्रतीक्षमाणां मामुपेक्ष्य क्वाग्रे गन्तुमिच्छा ? इदं भावत्कं हर्म्यम् । सर्वापि विलाससामग्री भवच्छुश्रूषायै व्यग्रा वर्त्तते ।" स्रस्तं स्तनांशुकं करादुन्नयन्ती सप्रश्रयमपाङ्ग[8] बाणैर्निघ्नाना नव्यां भाव-

---

१. 'ग्राह'=मकरः २. तृणवत् ('मन्यस्याऽनादरे', इति चतुर्थी) ३. अस्तव्यस्तं करोति ४. दिगन्तरः ५. आलयस्य, (आलयो निलयशाला सभोदवसितं



सातवां प्रकाश

परिग्रह मगरमच्छ से पकडे हुए व्यक्तियो के शुभ की संभावना कहां है ? परिग्रही व्यक्ति कौन-सा अनर्थ नही करता ? जगत् को तृणवत् मानने वाला तथा दुराशय से प्रताड़ित व्यक्ति कौन-सा अकार्य नही कर बैठता ? बढ़ता हुआ परिग्रह रूप नदी का वेग कौन-सी कुलमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर देता ? कौन से आत्महितकर आचार का अतिक्रमण नही करता ? कौन-सी गुरुवचन की परम्परा की भित्ति को नही तोड़ता ? सत्य है यह आगम वाक्य-'परिग्रह पाप का मूल है।'

एक बार विशिष्ट वेष को धारण कर, नाना प्रकार के आभूषणों से शरीर को अलंकृत कर, इत्र आदि से चारों ओर सुरभि को बिखेरता हुआ, ताम्बूल के चर्वन से दोनो होठों को लाल कर अपनी प्रतिच्छाया को देखता हुआ वह साक्षात् काम का अवतार-सा कुवेरदत्त कुवेरसेना के घर के आगे से निकला। सौन्दर्यशाली तथा धनाढ्य युवक को देख कर प्रकृति से चपल कामुकी वेश्या कामदेव के जाल की तरह उसके सामने आ पहुंची। हाव-भाव विलास आदि दिखाती हुई वह कहने लगी—नाथ ! मैं आपकी चिर प्रतीक्षा कर रही थी। आप मेरी उपेक्षा कर आगे कहा जाना चाहते हैं ? यह आपका ही घर है ? यहाँ की समस्त विलास सामग्री आपकी शुश्रूषा करने के लिए व्यग्र है। नीचे गिरे हुए—स्तनांशुक को ऊंचा उठाती हुई, स्निग्ध कटाक्षों

कुलमिति हेमचन्द्रः) ६. वृषस्यन्ती कामुकी ७ मन्मथवागुरा=काममृगजालिका (वागुरा मृगजालिका, इति हेमचन्द्रः) ८. "अपाङ्गवाणैः"=कटाक्षवाणैः

भङ्गी नाटयन्ती पादपातिनी बभूव। व्याधबाणविद्धवातायुरिव[1] तस्याः कटाक्षगार्धपक्षौर्व्याहतः[2] कुबेरदत्तस्तद्वशंवद. समजनि । अधर्म्यं तद्धर्म्यं गन्तुमुन्मनाः सस्मितं प्रोवाच—"प्रिये ! ह्रियेव[3] मादृशां मनः सकोचमञ्चति त्वदावसथ[4] सनाथयितुम्, किन्तु तव प्रेमपाशेन दृढ नियन्त्रितोऽस्मि, नाग्रे गन्तुमतः प्रभवामि।"

वेश्या—प्राणेश ! कथं संकोचं सोसूच्यते भवतां स्निग्धं चेतः। नेतस्ततो विलोवनीय पुनतांतमां ममान्तःकरणमारुह्य मन्मन्दिरम्। तदङ्गस्पर्शव्यापृतकरः कुबेरदत्तो निकामं कामेन निपीडितः सरोमोद्गममुपरि समाजगाम। पञ्चाक्षजन्यवैषयिकसुखमनुभवन् निमिषमिव दिवसानत्यवाहयत्।

धिक् ! कामुकानां दुष्प्रवृत्तिम्। प्रज्वलितेऽस्मिन् कामदावानले भवति खलु प्लुष्टं[5] विवेकवनम्। न तत्र कुलजात्यादिविचारः, न च तत्र धर्माधर्मप्रचारः। बुद्धेरुपरि नीरन्ध्रमीदृगावरणमापतति[6] यन्नरः, किमप्यालोचयितुमपि नार्हति। प्रदीपे पतङ्गवल्लोचनानि निमील्य ब्राह्यसौन्दर्यव्यामूढ पतयालुः स्यात्। हा ! सर्वगुणगणघस्मरेण[7] स्मेरेण पीडितानां वाण्यपि जायतेऽकल्याणी, दृगपि परिस्फुरत्यन्यादृग्, गतिरपि दुर्भाविनां वमति, अन्तःकरणमपि च नानादुर्विकल्पशरणम्। निद्रापि तान् शुभदरिद्रान् नाद्रियते, शान्तिपरम्परापि नहि क्षणं विश्रान्त्यर्थमायाति च तत्र। हन्त ! हन्ताऽनेन दुर्मारिणमारेण मारिता के यशःकालुष्यं नागु[8] ? के प्रातरस्मार्यनामधेया नाऽविद्यन्त ? के नानापदामास्पदीभूताश्च नोभूताः ?

आरात्सर्वदारेभ्यस्तिष्ठन्त.[9] सन्तस्त्वल्पिष्ठा अेव सन्ति, परन्तु गृहमेधिनामारात्स्वदारेभ्य.[10] स्थायिका नौचित्यमुल्लङ्घते। पर्वतिथि-

---

१. हरिणः (मृगः कुरङ्गः सारङ्गो वातायुहरिणावपि, इति हेमचन्द्रः) २. ३. लज्जया ४. "आवसथम्=धिष्ण्यमावसथं स्थानमिति हेमचन्द्रः।

के वाणो से चोट करती हुई और नवीन भाव-भंगी को प्रगट करती हुई उसके पैरों में जा गिरी। व्याध के वाण से विद्ध हरिण की तरह उसके कटाक्ष वाणो से व्याहत कुबेरदत्त उसके वशीभूत हो गया। उसके पापपूर्ण मकान मे जाने को उत्सुक उसने मुस्कराते हुए कहा—'प्रिये! तुम्हारे घर मे आने से मुझे संकोच हो रहा है, किन्तु तुम्हारे प्रेमपाश से नियन्त्रित हूँ अतः आगे मैं जा नही सकता।'

वेश्या ने कहा—'प्राणेश! आपका स्नेहिल चित्त संकोच क्यो दिखा रहा है? इधर-उधर न देखें, मेरे अन्तःकरण पर विराज कर आप मेरा घर पवित्र करें।' कुबेरदत्त ने वेश्या के अंग को स्पर्श करने के लिए हाथ वढ़ाया। वह काम वासना से अधिक पीड़ित होता हुआ रोमाञ्चित हो उठा। वह ऊपर गया। ऐन्द्रियिक सुखों का अनुभव करता हुआ वह दिनो को क्षण की भांति व्यतीत करने लगा।

कामुक व्यक्तियो की दुष्प्रवृत्ति को धिक्कार है। इस प्रज्वलित काम रूपी दावानल मे जल कर विवेक राख हो जाता है। वहा कुल, जाति, धर्म अधर्म का विचार नही होता। इसमे फसे हुए व्यक्ति की वुद्धि पर इतना गाढ आवरण आ जाता है कि वह कुछ भी सोच नही सकता। प्रदीप पर पड़ने वाले पतंगो की तरह वह आंखें मीच कर वाह्य सौन्दर्य मे व्यामूढ वन कर नीचे गिर पड़ता है। हा! समस्त गुणो का नाश करने वाले कामदेव से पीड़ित व्यक्तियो की वाणी भी अकल्याणकारी हो जाती है। आखे विकृत हो जाती हैं, गति में दुर्भावना आ जाती है, अन्तःकरण भी नाना दुर्विकल्पो का आश्रय वन जाता हैं नीद भी उनके पास नही आती। शाति भी वहां विश्राम लेने नही आती। हन्त! हन्त! इस दुष्ट कामदेव से पीड़ित किन-किन व्यक्तियो का यश कलंकित नही हुआ? किन-किन व्यक्तियो का नाम प्रातः काल में अस्मरणीय न हुआ? कौन-कौन नाना प्रकार की आपदाओ के आश्रय स्थान नही वने?

समस्त स्त्रियो से दूर रहने वाले संत तो इस संसार मे वहुत थोडे ही है, परन्तु गृहस्थो के लिए अपनी स्त्री के पास रहना अनुचित नही है। वहा भी पर्व तिथी को व्रह्मचर्यका पालन करना महत्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु वेश्या

---

५. दग्धम् ६ गाढम् ७. सर्वगुणसमूहभक्षकेन ८. न प्रापुः ९. आराद्= दूरम् १० आरात्=समीपम् (आराद्दूरसमीपयोरिति वचनात्)

त्यागस्तु तत्रापि प्राप्तपरभागो[1] विलसत्येव सुतराम्; किन्तु पण्यस्त्रीणां परस्त्रीणां वा तल्पगामित्वं[2] महापाप्मानमाप्नोति[3]। हा ! हा ! परोच्छिष्टं भुञ्जानाः कथं काककुक्करादीन् नातिशेरते ? तत्र दृक्पातोऽपि न कथमुन्मिषत्स्वेष्टविघातः ? तासु स्निग्धो वाचनिकः प्रयोगोऽपि विधूनयच्छुभसंयोगः, ताभिः पाशविकक्रिया[4] त्वप्रतीकार्याऽऽमयानां प्रक्रिया । भूघनं[5] धनं यौवनं चापि स्वाहाकृत्य को नग्नंकरणं[6]पण्याङ्गनाशरणमङ्गीकुरुते धीधरो नरः । सत्यमथवाऽकृतस्वदारसन्तोषा विवेकसूर्यास्तमनदोषां[7] परयोषामासेवमानाः[8] कुबेरदत्त इव न किं माततल्पगा अपि जायेरन् ? हा ! कीदृशं दुश्चरितम् ।

अस्तु, कुबेरदत्तस्तु तद्गृहं स्वमन्दिरायमाणः कुबेरसेनां च भार्यायमाणः कियता कालेन प्राप्तनन्दनः समजनि ।

प्रभवः—धिग्-धिग् महत्पापमाचरितमेतेन । ततः किं वृत्तमितिवृत्तं शुश्रूषते मे कौतूहलाकुलं कर्णयमलम्, चाचल्यतामग्रेतनं च कथानकम् ।

जम्बूः—इतः प्राप्तावधिज्ञानबलतः सतीमचर्च्चिका[9] कुबेरदत्ता स्वभ्रातुर्दुश्चरितमालोक्यातिघनघृणया[10] तौ प्रतिबोधयितुं कृतसंकल्पा स्वप्रवर्त्तिनीमनुज्ञाप्य काभिश्चित्साध्वीभिः सह मथुरां प्रति प्रतस्थे । ग्रामानुग्रामं विहरमाणा सुखं तत्राजगाम । कस्यश्चिद् गृहमेधिनो निर्दोषनिलयमध्यूष्य[11] गाणिक्यवीथीमनुससार, तद् गृहं चाससाद । काञ्चिज्जैनीं भिक्षुकीं स्वपस्त्यमुपस्थितां[12] निरीक्ष्य विस्मयातिरेकं दधती स्मितमुखी वेश्या विचारयितुं लग्ना—"बत ! बत ! कथमियं श्रमणा भिक्षार्थं पुरीमटाट्यमाना गणिकालयं प्रविष्टवती ? नेमा नैष्टिकं ब्रह्मचर्यमाचरन्त्यो निकामं कामोद्दीपनकारणं वेश्याशरणमाश्रयीरन् । उत, प्राञ्जलतया[13] कस्यचित्सद्गृहस्थस्य धवलगृहमितीव मम्मन्यमाना मन्ये मदोकः पावितवती[14]। अहा ! इमाः साक्षात्

---

१. गुणोत्कर्षः २. शय्यागामित्वम् ३ पाप्मानम्=पापम् (दुष्कृतं दुरितं पापमेनः पाप्मा च पातकमिति हेमचन्द्रः), ४ सम्भोगक्रिया, ५. गात्रम् (क्षेत्र-गात्रतनुभूघनास्तनू रिति हेमचन्द्रः) ६. अनग्नो नग्नः क्रियते अनेनेति-नग्नंकरणम् । ८ विवेक-सूर्यास्तमनदोषां=विवेकसूर्यास्तमने दोषामिव—

या पर स्त्री का संग महान् पापकारी है। हा ! हा! दूसरो की झूठन खाने वाले क्या काक और कुत्तों से वढ़कर नही हैं। क्या उनको ओर देखने से इष्ट का विघात नही होता ? उनके साथ किये जाने वाले स्निग्ध आलाप से शुभसंयोग नष्ट हो जाते है। उनके साथ रमण करने से असाध्य रोगों का प्रादुर्भाव होता है। कौन बुद्धिमान मनुष्य अपने शरीर, धन और यौवन को स्वाहा कर सर्वविनाशी वेश्याओ के संग को स्वीकार करेगा ? यह सत्य है कि जो व्यक्ति अपनी स्त्री मे संतोष नही करते वे विवेक रूपी सूर्य को अस्त करने वाली पर स्त्री का सेवन करते हुए क्या कुवेरदत्त की भांति कभी कभी माता के साथ भी रमण नही कर लेते ? हा ! यह कैसा दुश्चरित्र !

अस्तु इधर कुवेरदत्त वेश्या के घर को अपना घर और कुवेरसेना को भार्या के रूप मे मानने लगा। वह वही रहने लगा। थोड़े समय के वाद उसे एक पुत्र पैदा हुआ।

प्रभव ने जम्वू से कहा—धिक्कार है, धिक्कार है। उसने वहुत वड़ा पाप किया। इससे आगे क्या हुआ। यह सुनने के लिए मेरे कर्णयुगल व्यग्र हो रहे हैं—आप अपनी कथा आगे चलाइये।

जम्वू ने कहा—इधर साध्वियों मे श्रेष्ठ कुवेरदत्ता ने अपने अवधिज्ञान के वल से अपने भाई के दुश्चरित्र को देखा। उन दोनो को प्रतिवोध देने का संकल्प कर अपनी प्रवर्तिनी से आज्ञा लेकर उसने कुछ एक साध्वियो के साथ मथुरा की ओर प्रस्थान किया। ग्रामानुग्राम विहार करती हुई वह सुख से मथुरा में आ पहुँची। किसी गृहस्थ के निर्दोष घर मे ठहरी और वेश्याओं की गली मे जाती हुई कुवेरसेना के घर पहुँची।

किसी जैन भिक्षुणी को अपने घर पर देख कर विस्मय करती हुई वेश्या विचार करने लगी—खेद, खेद ! यह श्रमणी इस नगर मे भिक्षा के लिये घूमती हुई गणिका के घर मे क्यों आई है ? ये साध्विया नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई अत्यन्त कामोद्दीपन के हेतूभूत वेश्या के घर मे नहीं आती। चूने से धवलित इस गृह को किसी सद्गृहस्थ का घर मानती हुई

रात्रितुल्यामित्यर्थः। ८. परस्त्रियम्। ९. सतीश्रेष्ठा १०. अत्यन्तकृपया (कारुण्यं करुणा घृणा, इति हेमचन्द्रः) ११. अध्यूष्य=अन्तः स्थित्वा १२. स्वगृहम् १३. सरलतया १४. पवित्रं कृतवती

त्यागप्रतिकृतयः कथमिव दुर्निवहं संयमभारं कोमलाङ्ग्योऽपि वोढुमलं-भूष्णवः ? वयं तु नानान्नपानसुखमनुभवन्त्योऽपि प्रतिपलं म्रियामहे। आसां मुखारविन्दं तु कियत् प्रोत्फुल्लं विराजते ? नानाकालुष्य-कलुषितमपि धन्यमन्यं मदाङ्गणं यत्र स्वर्गापगा[1] स्वयमवतीर्णा। अहो ! स्फुरत्पीयूपवर्षणे आसां दर्शने जातमात्रे हि किमपि नवीनं सुखमनुप्राणितं भवति, कुरङ्गीव कूर्दन्ती[2] च भावभङ्गी सहसा सुस्थितिमश्नुते", इत्थमन्तर्विचारवीचिं विचरन्ती वाचंयमीभूता वेश्या यावद् विलोकते तावत्सा साध्वी चतुरवर्धकिविरचिते नानाविचित्रचित्रचुम्बितचाकचिक्ये, सुकोमलचीनांशुकस्यूतचतुष्कोणे[3] प्रलम्बायमानसुगुम्फितकौशेयगुणे प्रेङ्खोलने (पालने सुखमुत्तानशयं[4] शनकै[5]रेकधारमकर्कशं रोरुद्यमानमर्भक[6]मुपाजगाम। रुदति क्षीर-कण्ठे[7] यथा मातृप्रभृतयो हल्लरकानि[8] गायन्ति तद्वत्साध्व्यपि तं डिम्भ-मभिमुखीकुर्वाणा मधुरस्वरेण हल्लरकमयं किमपि गानं गातुं लग्ना—

"विनय ! चिन्तय वस्तुतत्त्वम्" इति रागेण गीयते –

"माकृथा रोदनमरेऽर्भक ! ममोदितमाकर्णय।
का समायाता गृहे ते, मुहूर्तं प्रतिपालय"।
ध्रुवपदमिदम्।

सोदरा भगिनी त्वदीयाऽहं कथं मान्या न ते ?
आवयोरेकास्ति माता, क्षणमिमां संभावय ।।मा० १।।
पुनः पुत्रस्त्वमसि मे, मद्भर्तृपुत्रत्वादरे !
आगता माता तवेयं, भव त्वं सुत ! निर्भय. ।२।।
पत्युरनुजत्वान्मदीयस्त्वमसि शावक ! देवरः ।
वीक्षितु त्वां भ्रातृजाया, समागात् शान्तिं श्रय ।।३।।
भ्रातुरात्मजता त्वदीया, कथं स्वीकार्या न मे।
पितृभगिनीमागता, भ्रातृव्य ! स्वस्मृतिमानय ।।४।।
मातृभर्त्ता भवति जनकस्तदनुजत्वात् त्व ध्रुवम्।
भवसि पितृव्य पुनर्मे, सूक्ष्मदृष्ट्या चिन्तय ।।५।।
सपत्नीपुत्रस्य पुत्रत्वात्, त्वमसि पौत्रो मम।
स्वजनसम्बन्धास्त्वया सह, षडिति पुत्र ! न शङ्कय ।।६।।

---

१. गङ्गा २. उच्छलन्ती ३. "चीनाशुक" = "रेशमीवस्त्र" - इति भाषायाम्

मेरे घर मे आई है। अहा! ये साक्षात् त्याग की प्रतिमूर्तिया है। कोमल अंगो वाली ये स्त्रिया सयम के भार को किस प्रकार वहन करने मे समर्थ होती हैं? हम नाना प्रकार के अन्न-पान आदि का सुख अनुभव करते हुए भी प्रतिपल मरते हैं, इनका मुखारविन्द कितना प्रफुल्लित है? अनेक पापो से कलुषित मेरा आगन भी आज धन्य हो उठा है, गंगा स्वय य ां अवतीर्ण हुई है। अहो! इनके अमृतवर्षी दर्शन होने मात्र से ही कोई नवीन सुख अनुप्राणित होने लगता है। अत्यन्त चचल भावनाए भी स्थिर हो जाती हैं। इस प्रकार विचारो मे विहरण करती हुई जब वह देखती है इतने मे वह साध्वी पालने मे सोये हुए बच्चे के पास आ पहुँची, जो मद स्वर से रो रहा था।

वह पालना चतुर कारीगर द्वारा निर्मित था। उसमे अनेक चित्र चित्रित थे। उसके चारो कोने रेशमी वस्त्रो से सिले हुए थे। एक लम्बी रेशमी, रस्सी उसके बंधी हुई थी। जिस प्रकार माता अपने रोते हुए बच्चो के लिए लोरी आदि गाती है, उसी तरह साध्विया भी उस रोते हुए बच्चे के सामने जाकर लोरी गाने लगी।

'हे बालक! तू मत रो, मेरा वृत्तान्त सुन। तेरे घर मे कौन आई है, थोडे समय के लिए चुप रह। मैं तेरी भगिनी हूँ— तेरे द्वारा मान्य कैसे न होऊं। हमारी माता एक है, यह तू क्षण मात्र के लिए विचार कर। पुनः तू मेरा पुत्र है, क्योकि तू मेरे पति का पुत्र है। हे बालक तेरी यह माता आई है, तू निर्भय हो जा। हे बालक तू मेरे पति का अनुज है अत. मेरा देवर है। तुझे देखने के लिए तेरी भोजाई आई है, तू शान्त रह। तू मेरे भाई का पुत्र है, यह मुझे स्वीकार कैसे न हो? हे भतीज! मैं तेरे पिता की बहिन (भुआ) हूँ, यह तू अपनी स्मृति मे ला। माता का पति पिता होता है। तू पिता का अनुज है; इसलिये तू मेरा चाचा है, यह सूक्ष्म दृष्टि से सोच। सपत्नी के बेटे का बेटा होने से तू मेरा पौत्र है। हे पुत्र! तेरे साथ मेरे छह ज्ञातेय सम्बन्ध हैं, अतः तू शकित मत हो।'

---

४. उत्तानः शेते इति उत्तानशयस्तम् (इदमर्भकस्य विशेषणम्) ५. मन्दे
६. अर्भकम्=बालम् ७. शिशौ ८. "लोरी' हालरिया" इति भाषायाम्

उदीचीना[1] कादम्बिनीव[2] सुखकरी साध्वीमतल्लिका[3]ऽस्खलित वाग्धाराभिर्वर्षितु लग्ना—"भ्रातः! नाहमन्यमनस्कतया भ्रान्त्या वा गणिकागृहमागाम्, किन्तु युवयोर्दुरासदमपसदं[4] ज्ञानवलेनासाद्य सघृणं प्रवोधयितुमनाः समागमम्। बान्धव! न कथं हृणीयसे[5] यया सह तवाधुनिको निवासः साऽऽवयोर्जनयित्री वर्त्तते। हा! हा! त्वयाऽमापि[6] मे षड् ज्ञातेयसम्वन्धाः संगच्छन्ते, शृणोतुतराम्—

प्राथमिके—सहोदरत्वादावां भगिनीभ्रातरौ।
द्वैतीयीके—कृतपाणिग्रहाणावावा दम्पती।
तार्तीयीके मन्मातृधवत्वमादधद् मे पिता।
तुर्ये—मम पितृव्यपितृत्वाज्जातो मे पितामहः।
पञ्चमे –सपत्नीजन्यत्वाद् वैमात्रेयः पुत्रोऽपि मे संपद्यसे।
षष्ठे—मम देवरजनकत्वात् श्वशुरोऽपि मे भवसि।

भद्र! किं बहु व्याकुर्वे, गहना कर्मणां गतिः ससृतेरीदृगंवास्तिरीतिः"।

तस्या महासत्याः सत्यां पथ्यां भाषां निशम्य कुबेरदत्तो ह्रीतः, खिन्नः, स्विन्नो,[7] विवर्णत्वमाप्तो, मर्माहत इव च सम्भूतः! हा! हन्त! कोऽस्यां वसुन्धरायां मादृशोऽन्यः पापीयसां धुरन्धरः? प्रथमं भगिनीतल्पगो भूत्वापि न विषयान्निर्विण्णः। बत! विषयान्धलोऽहं मातृगाम्यपि समभवम्। विश्वम्भरे![8] किं मादृशं महापातकिनं स्वाङ्के विभर्षि! सद्यो देहि विवरं मह्यं यथा प्रविशामि तवोदरम् अदृश्यो भवामि पुनर्जगतां नयनपदवीतः अथवा सृजामि स्वागात्मघातम्, किमितरेण विकल्पेन?

पुनः साध्वीकुञ्जरा स्वामम्बां सम्वोध्य प्रकाशयितुं प्रवृत्ता—"मातः! किं मां वहिर्निष्कासयितुं सावकाशा भवसि? अहं तु वहिर्निष्कासितैव वर्त्ते, परन्तु त्वां कलुषकर्दमनिमग्नां निष्कासयितु समागामहम्। अम्ब! त्वया सार्धमपि मे षट् सम्वन्धाः समुल्लसन्तितराम्—यथा स्मरसि[9] मातस्तवोदरे यदावां वत्स्यावो जननमाप्स्यावो कुट्टनी-हस्तात् सिन्धुप्रवाहेऽपि[10] प्रवाहितौ च भविष्याव:"?

---

१. उदीच्या भवा २. मेघमाला ३. साध्वीपुङ्गवा ४. पापम् "खेटं पापमप-

उत्तर दिशा के मेघ की तरह सुखप्रद साध्वी-प्रमुखा ने अस्खलित वाणी में कहा—'भाई' ! मैं अन्यमनस्कता या भ्रान्ति से यहां नही आई हूँ। किन्तु तुम दोनों का अधम कार्य अपने ज्ञान के बल से जानकर तुम्हे प्रबोध देने के लिए यहा आई हूँ। बान्धव ! तू लज्जित क्यो नही होता ? जिसके साथ तू अब निवास कर रहा है वह हम दोनो की ही जननी है। हा हा ! तेरे साथ भी मेरे छह ज्ञातेय सम्बन्ध हैं सुन—

प्रथम—तू और मैं भाई बहिन हैं।

दूसरा—हम दोनो विवाह मे बधे, अतः दम्पती हैं।

तीसरा—मेरी मा का पति बना अतः तू मेरा पिता है।

चौथा—चाचा का बाप होने से तू मेरा दादा है।

पांचवा—सौत से उत्पन्न होने के कारण तू मेरा पुत्र है।

छठा—तू मेरे देवर का पिता है, अतः मेरा श्वसुर है।

भद्र ! और ज्यादा क्या कहूँ। कर्मो की गति गहन है। संसार की यही रीति है।'

उस महासती की सत्य और हितकर भाषा को सुनकर कुबेरदत्त लज्जित खिन्न और स्विन्न (पसीना-पसीना) हुआ मर्माहत की तरह हो गया। 'हा हन्त! इस वसुन्धरा मे क्या मेरे जैसा कोई पापी है ? सर्वप्रथम भगिनी के साथ रमण करके भी मैं विषयो से निवृत्त नही हो सका। वत ! विषयो मे अन्ध होते हुए मैंने माता के साथ भी गमन किया। हे पृथ्वी ? तू मुझ जैसे महापापी को अपने अंक मे क्यों रखती है ? अभी तू मुझे विवर दे ताकि मैं तेरे उदर में प्रविष्ट होऊं। ऐसा कर मैं जगत की दृष्टि से अदृष्ट हो जाऊं अथवा शीघ्र ही मैं आत्मघात कर लूं। दूसरे विचार विनिमय से क्या ?"

पुनः महासती अपनी माता से कहने लगी—'मा ? क्या तू मुझे बाहर निकालने के लिए तैयार है ? मैं तो बाहर ही हूं। मैं तुझे पाप कर्दम से निकालने के लिए यहा आई हूं। मा ? तेरे साथ भी मेरे छह सम्बन्ध हैं। मां ? क्या तुझे याद है कि जब हम तेरी कुक्षी से उत्पन्न हुए थे तब रंग माता के हाथो हमको तुमने नदी के प्रवाह मे प्रवाहित कर दिया था।'

सदमिति हेमचन्द्रः) ५. लज्जसे ६. अमा=सह ७. स्वेदं प्राप्तः ८. पृथ्वि ! ९. स्मरसि, (भूतेऽनद्यतने यदि स्मृत्यर्थे स्यत्यादिः) १०. नदी प्रवाहे

एवं साध्वीभिराकलितां काकलीं[1] दूरादाकलय्य कुबेरसेना विस्मिता स्तब्धा विचारमग्ना समजनिष्ट—हन्त ! सती भूत्वापि किमियमसतीं कथां प्रथते ? किमेषा घोरतपसः पारणायां परकृतैः प्रासुकैरपथ्यभोजनैर्ग्रथिला तु न संवृत्ता ? मच्छिशोर्हल्लरकानि गायन्त्या कियन्तोऽपगतबन्धाः सम्बन्धा अनयोदिताः ? अथवा मद्गृहमन्त्रमानेतुकामा कापि चारा[2] तु न कृतसंचारा ? कथमितरथा साध्वीनामेतादृशा मिथ्याप्रलापाः समुद्भवेयुः ? तर्हि सत्वरं याम्यहमस्याः ससीमं निष्कासयाम्येनां मद्गृहाद् बहिः, इत्थं विकल्पमाना तत्कालमासनोत्थायं[3] धावमाना तामुपेत्य स्खलिताक्षरया वाचा वक्तुं प्रवृत्ता—"भगवति ! कोऽयं प्रलापो आरब्धस्त्वया ? के के मच्छिशुना सहाऽघटिताः सम्बन्धाः संयोजिताः ? किमु साध्वीप्रकाण्ड[4] मिदमेवानुशीलयति ? वाचंयमानां भवति किमेतादृशी वाणी ? कासि तत्रभवतीति स्पष्टं लपनीयं, नापलपनीयमीषदपि । अेकं तु गणिकागृहागमनं भवादृशामनुचितम्, द्वितीयमपरिचितशिशुसम्भावनम्, तृतीयं तत्राप्यघटितशब्दोच्चारणम् । अलमलमस्मत्सदनस्थायिकया,शीघ्रं बहिर्भागमाभेजानामत्रभवतीं वीक्षितुमिच्छामि, पुनातुतमां कस्यचिद् भवत्श्राद्धस्य गृहचत्वरम्[5] ।

इतः कर्कशगिरं गिरन्ती स्वप्रेमिकां विलोक्य किं किमिति सशङ्कीभूय कुबेरदत्तोऽपि तत्राजगाम । स्वभगिनीं पत्नी वा कुबेरदत्तां साध्वीं निभाल्योपलक्ष्य च त्रपानताननः संजज्ञे, कुड्मलीकृतपाणिर्नम्रां वाणीं वदितुं च प्रवृत्तः—"साध्वीपुङ्गवे ! महान् प्रसादो व्यधायि यन्मादृशाः पापीयांसः शुभदर्शनेन पवित्रिताः, प्रभूतपुण्यानां परिपाक अेवाद्य जातो नाम. अन्यथा क्व भावत्कं दर्शनम् ? शुभे ! परन्तु तत्रभवत्याः पदार्पणं , मन्येऽन्यमनस्कतयैवात्र जातमथवाऽहमेव भ्रान्तिभाग्" ?

---

१ लयानुगः ध्वनिः (काकलीतु कलः सूक्ष्मः एकतालो लयानुगः, इति हेमचन्द्रः) २ गुप्तचरा ३. तत्कालमासनादुत्थाय इत्यर्थः (पञ्चम्या त्वरायामिति णम्) ४. सतीश्रेष्ठम् ५. गृहप्राङ्गणम् (प्राङ्गणं चत्वराङ्गणे, इति हेम०)

इस प्रकार साध्वी द्वारा गाये गए मधुर गीत को दूर से ही सुनकर कुवेरसेना विस्मित, स्तब्ध और विचारमग्न हो गई। हन्त ! यह साध्वी होकर भी इस असाधु कथा को क्यों कह रही है ? क्या यह घोर तपस्या के पारणे मे पर-कृत प्रासुक अपथ्य भोजन से तो पागल नही हो गई है ? मेरे शिशु के लिए हल्लरक गाती हुई इसने कितने विशृंखल सम्बन्ध बताये ? अथवा यह कोई गुप्तचर तो नही है, जो कि मेरे घर का रहस्य लेने के लिए आई है ? अन्यथा साध्वियो के इस प्रकार के मिथ्याप्रलाप कैसे हो, अतः मैं शीघ्र ही इसके पास जाऊं और इसे अपने घर से, वाहर निकाल डालूं— इस प्रकार विचार करती हुई वह अपने आसन से जल्दी उठकर उसके पास आ स्खलित वाणी मे वोलने लगी—'भगवति ! यह आपने क्या प्रलाप आरंभ किया है। आपने मेरे शिशु के साथ कौन कौन से अघटित सम्वन्ध संयोजित किये हैं ? क्या सुशील साध्वियां यही अनुशीलन करती है ? क्या साधुओ की यही वाणी होती है ? आप कौन हैं, स्पष्ट कहे, तनिक भी झूठ न वोलें। एक तो आप जैसो का गणिका गृह मे आना ही अनुचित है, दूसरा अपरिचित शिशु के साथ संभाषण, तीसरा अनर्गल शब्दो का उच्चारण। आपके यहाँ रहने से वहुत हो चुका, आप शीघ्रता से वाहर चली जाएं। आप अपने किसी श्रद्धालु के घर को पवित्र करें।'

इधर कर्कश वाणी वोलती हुई अपनी प्रेमिका को देखकर— क्या-क्या यह कहता हुआ कुवेरदत्त भी वहा आ पहुंचा। अपनी वहिन स्त्री, साध्वी कुवेरदत्ता को देखकर वह उसे पहचान गया। लज्जा से उसका शिर नीचे झुक गया। हाथ जोड़कर उसने नम्र वाणी मे कहा—हे साध्वीपुङ्गवे ! आपने महती कृपा कर मुझ जैसे पापी को दर्शन देकर पवित्र किया। मेरे प्रभूत पुण्य का परिपाक हुआ कि आज आपके दर्शन हुए है, अन्यथा वह कैसे हो ? शुभे ! क्या आपका यहां पादार्पण अन्यमनस्कता से हुआ है अथवा मैं ही भ्रान्ति में हूं।'

माता—आम्, स्मरामि, किमु युवामेतौ ? अरे ! नावसितौ मया। ततः क्व वृद्धि गतौ ?

साध्वी—भिन्नभिन्नजनसुरक्षितौ वृद्धिमाप्तौ भाविवलतो दाम्पत्यमप्यासादितवन्तौ।

माता—महदसाम्प्रतमुपनतम्, ततस्ततः किमभूत् ?

साध्वी—अंगुलीयकप्रत्यभिज्ञया जातुचिदहं प्राप्तरहस्या भृशं विमनायिता विरक्तिमासाद्य साध्वीव्रतमुररीकृतवती। व्रीडितो मे भ्राता स्वपुरं विहायात्रागत्य ते गृहं सनाथितवान्।

माता—हा ! हा ! हन्त ! हन्त ! ममायं पुत्रः ! धिग् गाणिक्यस्य चाण्डालिकीं वृत्तिम्।

साध्वी—अतः प्रथमा—त्वं ममाम्बा।

द्वितीया—पितृव्यमातृत्वात् पितामही।

तृतीया मम भ्रातृपत्नीत्वात् भ्रातृजाया।

चतुर्थी—सपत्नीपुत्रभार्यात्वाद् वधूः।

पञ्चमी—मद्भर्त्तुर्मातृत्वात् श्वश्रूः।

षष्ठी—पत्युर्द्वितीयपत्नीत्वात् सपत्नी च वर्त्तसे।

विलोकितं जगदिन्द्रजालनिभम्। सवित्रि! साम्प्रतं खेदेन नहि प्रत्यावलते[1] किमपि। यज्जात तज्जातमेव। इदानी तु निजस्वरूपं निभाल्यात्मशान्त्यै किमपि साधनीयम्। "गते शोको न कर्त्तव्यः" इत्युक्ति चरितार्थयन्तो ये वार्त्तमानिक समयं साधयितुं सज्जाः स्युस्त एव सफलतां वृणुयुः। एवविधां सतीशिरोमणीनां वागमृतं निपीय सुदारुणां जगद्वैचित्री चेतसि विचिन्तयन्तौ कृतघोराऽनाचीर्णस्य प्रायश्चित्तरूपं सर्वविरतिस्वरूपं चारुचरणमाचरितुं विहितनिश्चयौ तौ बभूवतुः। सुगुरोः सकाशाद् संयमं गृहीत्वा सम्यगनुशील्य च कल्याणी गतिमध्यगच्छताम्।

---

१. पुनरागच्छति

माता ने कहा—'हा, याद है मुझे। क्या तुम्ही हो वे। अरे, मैंने तो तुम्हें पहिचाना ही नहीं, अच्छा उसके वाद तुम बड़े कहां हुए ?'

साध्वी ने कहा—'विभिन्न व्यक्तियों ने हमारो सुरक्षा की और भावी के वल से हम दोनों विवाह सूत्र में बंधे।'

माता ने कहा—'वहुत अनुचित हुआ। उसके वाद क्या हुआ ?'

साध्वी ने कहा—'मैंने अंगूठी के निशान से सारा रहस्य जान लिया और संसार से अत्यन्त विरक्त हो मैं साध्वी बनी। मेरा यह भाई लज्जित होकर नगर को छोड़कर तेरे घर मे आ वसा।'

माता ने कहा—हा हा ! हन्त ! यह मेरा पुत्र है। धिक्कार है वेश्याओं की चाण्डाल वृत्ति को।

साध्वी ने कहा—तेरे साथ भी मेरे छह सम्वन्ध है।

एक—तू मेरी माता है।

दो—चाचा की माता होने से तू दादी है।

तीन—तू मेरे भाई की पत्नी है अतः मेरी भोजाई है।

चार—सौत के वेटे की वहू होने के कारण मेरी वहू है।

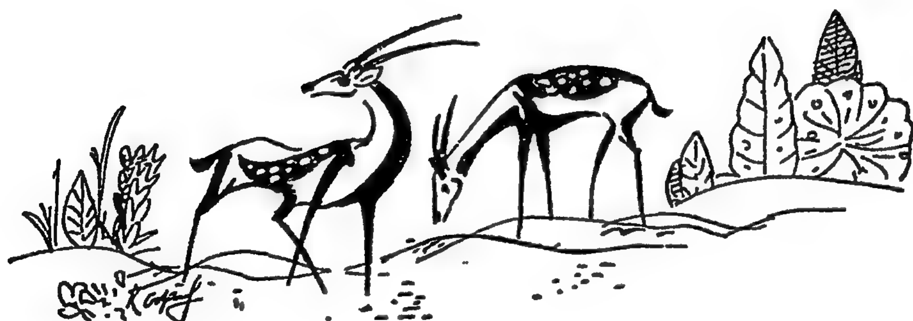
पांच—मेरे पति की मां होने के कारण तू मेरी सासू है।

छह—मेरे पति की तू दूसरी पत्नी है अतः मेरी सपत्नी है।'

जगत् के इन्द्रजाल को देखा तूने। मा ! अव खेद करने से कुछ नही हो सकता, जो हो गया वह हो चुका। अव तो अपने स्वरूप को देखकर आत्म-शान्ति के लिए कुछ करना चाहिये। वीते हुए के लिए चिन्ता नही करनी चाहिये—इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए जो वर्तमान को साधने के लिए सज्जित होते है वे ही सफलता को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार सती शिरोमणी के वाग् अमृत को पीकर दारुण जगत् की विचित्रता का मन मे चिन्तन कर अपने किये हुए घोर अनाचार के प्रति प्रायश्चित्त स्वरूप सर्व-विरति-रूप दीक्षा लेने का दृढ निश्चय किया। सुगुरु के पास चारित्र ग्रहण कर उसका सम्यग् परिपालन कर शुभ गति को प्राप्त हुए।

प्रभव:—विभावयेनां विष्टपविशिष्टतां प्रेमपटिष्ठतां च। एकस्मिन्नप्युद्भवे[1] चेदियन्तो ज्ञातेयसम्बन्धाः समुद्भवेयुस्तदानन्तजन्मसु तेषां का गणना ? अतोऽल तवाज्ञानोपदेशेन शेषेण। अहं तूदेष्यति सहस्रांशौ कल्ये साकल्येन गृहत्यागं विधाय स्वामिसुधर्मानुपदिकः संपत्स्ये,[2] नायं पौनःपुनिकोऽवसरः।

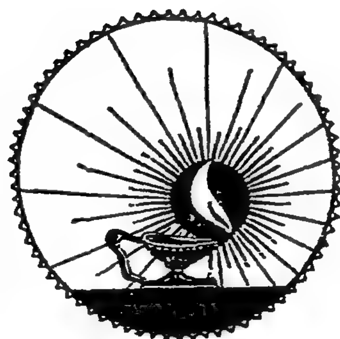
इति श्री चन्दनमुनिविरचते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये
सप्तमः प्रकाशः



१, जन्मनि, (जननं जनिरुद्भवः, इति हेम०) २. भविष्यसि।

'प्रभव ! विश्व की इस विशिष्टता और प्रेम-पटिष्ठता को देख, एक ही जन्म में यदि इतने ज्ञातेय सम्बन्ध होते हैं तब अनन्त जन्मों मे उनकी गणना कौन करे ? अतः तुम अपना अज्ञान भरा उपदेश बंद करो। मैं तो कल ही सूर्योदय के साथ ही समस्त रूप से गृह-त्याग कर स्वामी सुधर्मा का अनुसरण करूंगा। ऐसा अवसर वार वार नहीं मिलता।'

सातवां प्रकाश समाप्त



★ | अष्टम : प्रकाश :

प्रभवः—गाङ्गाम्बुपूतसत्वस्यूतविचार ! जम्बूकुमार ! भृश भावगाम्भीर्यं बिभर्ति ते भारती । त्वदुदितं सदुपदेशलेशं निशम्य दृषदोऽपि[1] द्रवेयुः, कल्किनो[2]ऽप्यकल्कना[3] भवेयुः, आसक्ता अपि विरक्ततामाश्रयेयुः, त्वयोदाहृता अकैके शब्दा नृणामन्तःस्तलमाविशन्तः स्पष्टं तत्वनिदर्शनं च विदध्युः; परन्त्वेका विचारधाराऽधुनावधि मद्हृदयोदधिमुन्मथ्नाति, "यथा नास्त्यपुत्राणां गति" रित्यतो न सङ्गतिमावहति ते यतीभवनम् । चिन्त्यमीषदपुत्राणां कः पिण्डदानं[4] दाता ? कस्तर्पणं विधाता ? कः श्राद्धं स्रष्टा ? येषां पितर आसुरी गतिमापन्ना भृशमवसन्नाः[5] सन्तो बम्भ्रमति तेषामपत्यानां धिग् जीवितम् । किञ्च, अपुत्रस्य प्रातः कोऽपि मुखमपि नेक्षितुं वाञ्छति । भूरिविभूतिं बिभ्रदपि भवनमपुत्रस्य [6]शमनसदनविभामाबिभर्ति । अहह ! यस्याजिरं धूलिधूसरैर्दिगम्बरैर्गृहीतहेवाकैः पार्कैर्विभ्राजते सोऽत्रैव "त्रिदिवशिवमनुसज्जते[8] । कुमारेश ! बालानां मुग्धालापाः कियन्माधुर्यमावहन्तितमाम् । हन्त ! तेषामग्रतः कुह वराकी मुधात्वमासादयन्ती सुधा ? क्व कर्करायमाणा शर्करा ? कुत्र मक्षिकाव्रतोच्छिष्ट च मधु ? अहो ! बालास्तु साक्षाद् दर्शनीयमुखारविन्दा योगिनः । अथवा महामनसोऽपि येषामवस्थां प्राप्तुं प्रयतन्ते न किं ते श्लाघ्याः ? अतो विलोक्यात्मजलपनजैवातृकं[9] वशवल्ली प्रफुल्लीकृत्य योग्यात्मजे गार्हस्थ्यभारं नियोज्य पश्चाद् दिष्ट्या[10] जुष्यः[11]

---

१. प्रस्तराः २. पापिनः, (अंहः कल्कमघं पङ्कमिति हेमचन्द्रः) ३ वीगतदम्भाः, (वीतदम्भस्त्वकल्कन, इति हेमचन्द्रः) ४. शीले तृन् "अतो न कर्म

☆ | आठवां प्रकाश

प्रभव ने कहा—'गंगा के नीर के समान पवित्र और सात्त्विक विचार वाले हे जम्बूकुमार ! आपकी वाणी में भावों की अत्यन्त गंभीरता है। आपके उपदेश को सुनकर पत्थर भी पिघल जाते है, दम्भी व्यक्ति भी दंभहीन हो जाते हैं, आसक्त व्यक्ति भी विरक्त बन जाते हैं। तुम्हारे एक-एक शब्द मनुष्यों के अन्तस्तल मे प्रविष्ट होकर तत्व को स्पष्ट करते हैं, परन्तु एक विचारधारा आज भी मेरे हृदय को मथ रही है। 'अपुत्रों की गति नहीं होती'—इसलिए आपका साधु बनना उचित नही है। आप कुछ सोचें कि अपुत्र व्यक्ति को पिण्डदान कौन देगा ? कौन तर्पण देगा ? कौन श्राद्ध करेगा ? जिनके माता पिता असुर गति को प्राप्त कर बहुत दु:ख पाते हुए घूमते फिरते हैं उनके पुत्रों के जीवन को धिक्कार है। क्योंकि प्रात: काल मे अपुत्र व्यक्ति का कोई मुँह भी देखना नहीं चाहता। पुत्रहीन गृह यदि विपुल वैभव से भरा पूरा है तो भी वह यमराज के घर के समान है। अहो ! जिसका गृहाङ्गण धूली धूसर नंगे और हठीले बालकों से सुशोभित होता है वह यहीं पर स्वर्ग सुख का अनुभव करता है। कुमारेश ! बालकों का मधुर आलाप कितना मधुर होता है। हन्त ! उनके सामने सुधा भी व्यर्थ हो जाती है। कहां कंकर के समान शक्कर मिसरी? कहां मधु मक्खियों के द्वारा उच्छिष्ट मधु ? अहो ! बालक तो साक्षात् दर्शनीय योगी है। अथवा महान व्यक्ति भी जिनकी अवस्था को पाना चाहते हैं, क्या वे श्लाघ्य नही है ? इसलिए आप अपने पुत्र के मुखचन्द्र को देखकर वंशावली को विकसित कर योग्य

णि षष्ठी" ५. भृशमवपादं प्राप्ता: ६. यमराजसदनशोभाम्, (यमराज: श्राद्धदेव: शमनो महिषध्वज, इति हेमचन्द्र:) ७. स्वर्गसुखम् ८. प्राप्नोति ९. पुत्रमुख-चन्द्रम् १०. प्रीत्या ११. सेव्य:

सन्न्यासाश्रमः श्रीमता, सुतरां तल्लीनतया साधनीया चापवर्गपद्धतिः ।

धीधराणां धुरन्धरो धारिण्यात्मजः पुनरपि सस्मित वक्तुमारेभे—तस्करेश ! इयन्निशम्यापि न शमनमायाता ते जघन्या मोहमादकता ? कियद् गाढमज्ञानमाधत्से यदपत्यैः स्वर्गाधिपत्यं स्वीकुरुषे ? पुत्रैरेव यदि गतिः स्यात्तर्हि शूकरकुक्करादीनां प्रथमं सद्गतिर्भवेत् । पुनर्यदि पुत्रपुण्यप्रसरैर्व्यापिन्नाः पितरः सुखिनो जायेरन्, तर्हि "अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्" इत्याद्याप्तोक्तिर्न किमपार्थका[1]स्यात् ? भ्रात. ! श्राद्धे श्रद्धया नानापायसादिपक्वान्नैर्भूदेवेषु भोजितेषु पितरस्तृप्तिमासादयेयुरित्येषा कल्पना न कथं त्वन्धविश्वासमनुबध्नाति, बुद्धेर्मान्द्यं च सूचयति ? यद्येषैव कल्पना सत्या तर्हि प्रस्थितानां पाथेयसंग्रहो न कथं मुधा स्यात् ? गच्छतु भवान् ग्रामं भोजयेऽहमत्रैकं वाडवम् । देहं विहाय तदानीमेवाऽसुमान् कर्मानुसारिणी गतिमासादयति, न तत्र परहस्ताक्षेपश्चाशङ्कनीय. । अहो ! आयाता मे स्मृतिमेका श्राद्धकृतो महेश्वरदत्तस्याऽऽख्यायिका श्रावयामि ताम्, अवधत्तां भवान् ।

प्रभव.—शृणोमि भो ! व्याक्रियताम् ।

जम्बूः—अस्ति विजयाभिधैका पूः । तस्यां भद्रप्रकृतिर्महेश्वरदत्तनामैको वणिक् । तस्य चलस्वभावा स्वैरिणी कौटिल्यशालिनी मालिनीनाम्नी भार्या । स्वस्वामिनः स्वभावसारल्यमधिगम्य साऽतीव पुंश्चली[2] संजाता । रूपयौवनगर्विता कुलमर्यादामुद्रुजन्ती कूलङ्कषेव नेषदपि त्रेपे । हा ! हा ! कीदृशः स्त्रीणां दुराराध्यः स्वभाव : ? पत्या परमप्रीत्या पोषिताप्युपोषिता[3] भवति परपञ्चजनभुक्तये । अनवरतविश्वस्तापि जाजायते विश्वासघातिनी । पूर्णमनुकूलितापि समाचर्रात किञ्चिद् वैपरीत्यं दयिते प्रातिकूल्यमाकलयतितरां

१. निरर्थका २. कुलटा ३. बुभुक्षिता

पुत्र को गृहभार सौंपकर, पश्चात् आप संन्यास आश्रम मे प्रवेश करें - दीक्षा ले और निरन्तर तल्लीनता से मोक्ष मार्ग की साधना करे।'

धीर धुरन्धर जम्बू कुमार हँसते हुए पुनः कहने लगे। 'तस्करेश ! इतना सुनने पर भी तेरी मोह-मादकता शात नही हुई? तुझमें कितना गाढ अज्ञान है कि तू पुत्रो के द्वारा स्वर्ग के आधिपत्य को स्वीकार करता है। यदि पुत्रो से ही गति होती तो शूकर कुत्ते आदि की सद्गति सबसे पहले होती। यदि पुत्रों के पुण्यप्रभाव से ही मृत माता-पिता सुखी हों तो क्या यह वाक्य —'किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है'—निरर्थक नही हो जायेगा ? भ्रात ! श्राद्ध मे अनेक प्रकार के क्षीर, पक्वान्न आदि भोजन विप्रो को खिलाने से मृत माता पिता तृप्ति का अनुभव करते हैं, यह कल्पना क्या तुम्हारे अन्धविश्वास की द्योतक नही है ? क्या यह तुम्हारी बुद्धि की मन्दता सूचित नही कर रही है ? यदि यही कल्पना सत्य है तो क्या देशान्तर के लिए प्रस्थित मनुष्यो का पाथेय संग्रह व्यर्थ नही जाता ? तुम ग्रामान्तर जाओ, मैं यहा एक विप्र को भोजन करा दूंगा। (तथ्य यह है कि) शरीर को छोड़कर जीव अपने कर्मानुसार गति को प्राप्त होता है। वहाँ दूसरो के हस्तक्षेप की आशंका नहीं करनी चाहिये। अहो ! श्राद्ध करने वाले महेश्वर दत्त की आख्यायिका मुझे याद आ रही है, उसे मैं तुम्हे सुनाता हूँ, तुम सावधान सुनो।

प्रभव ने कहा—'मैं सुनता हूँ आप कहे।'

जम्बू ने कहा—'विजया नाम की एक नगरी थी। वहाँ महेश्वरदत्त नामक एक वणिक रहता था। वह प्रकृति से भद्र था। उसकी स्त्री का नाम मालिनी था। वह चंचल स्वभाव वाली कुलटा और कौटिल्यशालिनी थी। अपने स्वामी के स्वभाव की सरलता को जानकर वह अत्यन्त कुलटा हो गई थी। वह रूप और यौवन पर गर्व करती हुई वेगवती नदी की तरह अपनी कुलमर्यादा का उल्लंघन करने मे कभी नही शरमाती थी। हा! हा ! यह कैसा स्त्रियो का दुराराध्य स्वभाव ! अपने पति के द्वारा परम प्रीति से पोषित होती हुई भी वह अन्य मनुष्य को भोगने की इच्छा करती है। सतत विश्वस्त होने पर भी विश्वासघात कर देती है। पूर्ण अनुकूल किये जाने पर भी किंचित विपरीतता पाकर शीघ्र विपरीत बन जाती है। अनेक प्रकार के नये-

झटिति। नानानव्यवासोभूषणादिप्रकरपरिपूरितापि दुष्पूरा प्रान्ते न कि-पि प्राप्तमित्येव पूत्कुरुते। अमूषां किं प्रियं किमप्रियम्? किं गम्यं किमगम्यमिति नावसातुं शक्यते गृहयानधूर्वहेन[1] सर्वंसहेन वराकेन वरयित्रा।

भवन्तुनाम दम्भिनः कथमपि चातुर्यंचतुरस्रास्तथापि तूलवातनिहिताग्निकणवन्नहि चिर गुप्तिमाधत्ते दम्भचर्या। अविदितचरमिदं स्वयोषिद्दुश्चरितं विदितमन्तेऽत्यन्तदुःखितेन धवेन। हा! किमिदम्! किमु ममान्वये दारुणप्रतिफलो दवानलो लग्नः? अहं कलहायमानो यद्यस्याः कुलटायाः कोलाहलं करिष्ये, ऋते स्वमानहानेर्नहि किमपि लप्स्ये। अतः समयमासाद्य दुष्टाया जारमेव जर्जरीकृत्य पापमूलं छेत्स्यामि; एवं निश्चित्य अनभिज्ञ इव रन्ध्राणि विलोकमानः कालं क्षिपति।

अथान्येद्यु रहसि सुरतनिरतं[2] निस्त्रपं तद् द्वन्द्वमासाद्य कोपकरालाननस्तत्पतिरुपपतिं[3] कुठाराघातेन घातयामास। भवत्यथवा परकान्ताकामुकानामियमेव प्रतिक्रिया। स्वां कान्तामप्यशान्तया वाचा निर्भर्त्सयामास—"बन्धकि![4] ध्रुवमिदं स्वचित्ते निश्चिनु,चेदत ऊर्ध्वमीदृगनाचरणीयमाचरणमाचरिष्यसि, तर्हि तवापि जीवनपतत्त्रिण[5]मुड्डीयमानमेव विद्धि, कथमपि सकृत्कृतं त्वदपराधमहं सहे, पुनराचरितं त्वरितं परक्षेत्रचिकित्स्यमेव[6] भावि, न शङ्का।"

मृत्युविभीषिकया सा भृशं भीतिमातन्वती सवेपथु प्रार्थयितुं लग्ना—"रक्ष-रक्ष मां पापीयसीं, पतिदेव! अग्रे नाहमीदृक् समाचरिष्यामीति शपथपूर्वकं व्याकरोमि। कृपालो! एकमागस्तु सोढव्यमेव"।

इतः स म्रियमाणो मर्त्यो निजदुर्गुणदत्तावधानो गतासुस्तस्या एव प्रेयस्याः कुक्षौ समवततार। इतस्तस्य पलादः[7] पापीयान् पिता दुर्ध्यानेन पञ्चत्वमाप्तो माहिषीं[8] गतिमधिगतः। पुनरमर्षणाऽस्य[9]

---

१. वलिवर्देन २. संभोगरतम् ३. जारम्, (उपपतिस्तुजारः स्यादिति

नये वस्त्र तथा आभूषणो से उसे भरने पर भी वह नही भरती और अन्त मे यही कहती है कि मुझे कुछ नही मिला—इनके लिए क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है, क्या गम्य है, क्या अगम्य है ? यह बैल की तरह गृहस्थी का भार वहन करने वाला विचारा पति नही जान सकता।

दंभी मनुष्य कितने ही चतुर क्यों न हों किन्तु रुई के ढेर में अग्नि कण की तरह दंभचर्या बहुत काल तक छुपी नही रहती। वह पहले अपने स्त्री का रहस्य नही जान पाया, किन्तु अन्त मे अत्यन्त दुःखित हो उसने अपनी स्त्री का दुश्चरित्र जान लिया। हा ! यह क्या है ? क्या मेरे कुल मे दारुण प्रतिफल देने वाला दावानल लगा है ? यदि मैं इस कुलटा से कलह कर कोलाहल करूंगा तो अपनी मान हानि के सिवाय मुझे कुछ भी नही मिलेगा इसलिए समय पाकर इस दुष्टा के जार का नाश कर पाप के मूल को ही छेद डालूंगा। यह निश्चय कर अनभिज्ञ की भांति स्त्री के दुश्चरित्र के रन्ध्रों को देखता हुआ काल व्यतीत करने लगा।

एक दिन एकान्त में अपनी स्त्री तथा जार को संभोगरत देखकर कोप से विकराल होते हुए उसने उस जार को कुठार से मार डाला। दूसरे की स्त्री मे रक्त रहने वाले कामुको की यही गति होती है और अपनी स्त्री को कठोर वाणी से भर्त्सना देते हुए कहा—कुटिले ! अपने दिल मे यह विश्वास कर ले कि आज से यदि तू ऐसा आचरण करेगी तो तेरे प्राण पखेरू भी इसी तरह उड जायेंगे। तेरे किए अपराध को मैं एक बार ज्यो त्यों सहन करता हूं। यदि तूने पुनः उसका आचरण किया तो तुझे दूसरे जन्म मे भोगने योग्य दण्ड सहना होगा, इसमे कोई शंका नही है।

मृत्यु की विभीषिका से अत्यन्त भयभीत होती हुई, कांपती हुई वह कहने लगी—'पतिदेव ! मुझ पापिनी की रक्षा करें। मैं यह सौगध पूर्वक कहती हूँ कि आगे ऐसा आचरण नहीं करूंगी। कृपालो ! एक अपराध तो सहना ही चाहिए।'

इधर मरते हुए मनुष्य ने (जार) अपने दुर्गुणों का ध्यान करते हुए मृत्यु को पाया और उसी प्रेयसी की कुक्षी में जन्मग्रहण किया। इधर महेश्वरदत्त का मांस-भक्षी पापी पिता दुर्ध्यान में मृत्यु को प्राप्त हो तिर्यञ्च

हेमचन्द्रः) ४. कुलटे ! ५. "पतत्त्रिणम्" पक्षिणम् ६. अपरशरीरभोग्यम् ७ मांसाशी ८ महिषसम्बन्धिनीम् ८ "अमर्षणा" क्रोधना

माता प्राप्तावसाना शौवनीं योनिं शिश्राय । हा ! कीदृशी शुभाशुभ-कर्मणामतर्कणीया गतिः ।

गच्छत्यनेहसि प्राप्तसुता संजाता महेश्वरदत्तपत्नी । नामकरण-महोत्सवे भूरिविभवव्ययोऽकारि सानन्द पत्या । पित्रोरुत्कृष्टहार्द्देन लालितः पालितः पुत्र. प्रतिदिनं सुखमेधते । विलोक्यतामिदमभिनव-भवनाटकम् ।

अथान्यदा महेश्वरदत्तः स्वपितुः श्राद्ध कर्तुंकामस्तदहे[1] तमेवमह-मालेभे,[2] यस्मै पिण्डदानं दित्सत्यसौ । इतो गतजन्ममाता कुक्कुरी व्यापादितसैरिभास्थि[3] भक्षितुकामा तदुद्वहेन[4] गाढं ताडिता कटिभग्ना वभूव ।

इतस्तत्र कश्चिद् विशेषज्ञानी महर्षिवरः समागात् अद्राक्षीच्च तत्र जायमानमकृत्य कृत्यम् । महेश्वरं सम्बोध्य स्पष्टं प्रोवाच—

"शत्रुमङ्के समारोप्य, पिता व्यापादितस्त्वया ।
कृता भग्नकटिर्माता, धिक् श्राद्धं, किं नु हृष्यसि"? ।

इति साधूदितं काव्यमाकर्ण्य वीक्षापन्नः[1] खिन्नश्च महेश्वरः सविनयमिदमपृच्छत्—भगवन् ! किमुदीरितं भवता, नावगतं मया किमपि ।

महर्षिवरः—हंहो ! महेश्वर ! प्रादुष्कुर्वे किमु यथास्थितं वृत्तम् ?

श्रेष्ठी—क्रियतां कृपा ।

महर्षि·—यमुद्वहं[6] सहर्षमुत्सङ्गे समुद्वहसि स त्वयैव जीवमारं मारितो जारस्ते पाणिगृहीत्या.[7] । मूढ ! किमद्य मोदमेदुरा वेविद्यसे सूनु दर्शं दर्शम् । अपरञ्च—माहिषी तनुमाश्रित स्वपितरं विशस्य[8] तस्यैव मांसेन तत्तृप्तिमातनोषि । हा हा ! कोऽसि त्वत्सदृशोऽन्यो मातृशासितः[9] ? पुनः सारमेय्यवतार"मासेवमाना ते प्रसविनी त्वयैव क्रुधान्धेन गाढमाहता भग्नकटिर्भृशमाक्रन्दतितराम् । हन्त ! तथापि त्वं किमद्य हर्षविह्वलो दरीदृश्यसे ? धिक्-धिक् तवाज्ञान-मूलकं कार्यम् ।

---

१ तद्दिने २. मारितवान् ३. महः (लुलायः सैरिभो महः, इति हेमचन्द्रः) "पाडा" इति भाषायाम् ४. तत्पुत्रेण १. विस्मितः २. आत्मजम्

योनि मे भैंसे के रूप में जन्मा और उसकी क्रोधशीला माता ने मरकर कु
की योनि मे जन्म लिया। हा ! शुभ अशुभ कर्मों की गति कैसी अतर्कणीय है

कुछ दिनों के वाद महेश्वरदत्त की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया
नाम करण महोत्सव में पिता ने वहुत द्रव्य व्यय किया। पिता के उत्क
प्यार मे लालित-पालित होता हुआ पुत्र सुख से वढ़ रहा था। देखिये
संसार का नया नाटक !

एक वार महेश्वरदत्त ने अपने पिता का श्राद्ध करने की इच्छा से उ
भैंसे का वध किया जिसको वह पिण्डदान देना चाहता था। इधर पूर्व ज
की माता जो मर कर कुत्ती हुई थी, मारे हुए भैंसे की हड्डियो को खाने
लिए वहां आई। उसके पुत्र महेश्वरदत्त ने उस पर ऐसा गाढ़ प्रहार कि
कि उसकी कमर टूट गई।

इधर कोई विशेष ज्ञानी महर्षि प्रवर वहां आए। उन्होने वहां होने वा
अकृत्य को देखा। महेश्वरदत्त को संवोधित कर स्पष्ट कहा—'अपनी गो
मे शत्रु का समारोपण कर तूने अपने पिता की हत्या की है और माता
कमर तोड़ी है ! धिक्कार है तेरे श्राद्ध को जिसको करके तू प्रसन्न हो र
है।' साधु श्री की वाणी सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। श्रेष्ठी ने विनम्रता
पूछा—'भगवन् ! आपने क्या कहा ? मैं कुछ भी नही समझ सका।'

महर्षि ने कहा—महेश्वर ! क्या मैं यथार्थ वात प्रकट करूं ?'

श्रेष्ठी ने कहा—'हां, कृपा करें।

महर्षि ने कहा—'जिस वालक को तुम प्रसन्नता से अपनी गोद
उठाए हुए हो, वह तुम्हारे द्वारा ही मारा हुआ तुम्हारी पत्नी का जार है
मूढ़ ! तुम अपने पुत्र को देख-देख कर क्यो मुदित हो रहे हो ? दूसरी वात
कि भैंसे के शरीर को धारण करने वाले अपने पिता को मार कर, उस
के मांस से तू उसकी तृप्ति करना चाहता है ? हा ! हा ! तेरे जैसा मू
कौन होगा ? कुत्ते की योनि में उत्पन्न अपनी माता को तूने क्रोध मे अन्ध
होकर खूव पीटा है। उसकी कमर टूट गई है और वह जोर-जोर से चिल्ल
रही है। हन्त ! तो भी आज तू हर्ष-विह्वल क्यों दीख रहा है ? धिक्का
है ! तेरे अज्ञानमूलक कार्य को'।

(उद्वहोऽङ्गात्मजः सूनुरिति हेमचन्द्रः) ३. भार्यायाः ४. हत्वा ५ मूर्ख
६. शुनीजन्म।

महेश्वरः—किं सत्यवद्यमिदम्[1] ? नहि संभावयामि खलु प्रत्यक्षप्रमाणमन्तरेण भवत्कथनमहम् । दीयतां किमप्यध्यक्षं प्रमाणम् ।

महर्षिः—चेदेनां रात्रिजागरां[2] ते भूतपूर्वामम्बामन्तःप्रवेशयसि, तर्हि लोभाकुलेयं स्वहस्तस्थगितनिधानस्योपरि गत्वोर्ध्वंदमा[3] भवित्रीति मे कल्पना ।

महेश्वरः—प्रमाणयामि साम्प्रतमेव भवत्कथनम् ।

महर्षिः—को निषेधति यदृच्छया सत्यापनीयम् । तत्कालमन्तर्विगाहिता[4] सा गृहमृगी[5] भूगतसेवधिसन्निधि[6]मासेवितुं लग्ना । महेश्वरो द्राक् कुक्कुरीमेकतः कृत्वा तदधस्तनीं वसुन्धरामुदखानीत्, स्वर्णप्रधानं च निधानं हस्तयित्वा प्राप्तपूर्णप्रत्ययः शोकसागरे न्यमाङ्क्षीत्[7] । हा ! किमिदं जगतः स्वरूपम् ? हन्त! मज्जीवनाधारः कुमारोऽयं जारः ! बत ! बताततायिना मया तातोऽपि घातितः, जनन्यप्याहता च । भवत्वजननिरेव मादृग्जननीक्लेशकारिणो दुर्विनीतस्य पुत्रस्य । भूयादकरणिरेतादृशस्य श्राद्धविधेः । एवङ्कारं बहु विकल्पयन् संसारान्निर्विण्णः । सुगुरोः सकाशात्सदुपेशामृतं निपीय नानाविधक्लेशावेशैरेकार्णवीभूतं[8] भुवनं हातुमना बभूव । आदाय च पवित्रं चारित्रं घोरं तपस्तप्त्वा सुखमूर्ध्वलोकौकाः संजज्ञे । ततस्तस्करेश! जहाहि जहीहि स्वकीयमाभिग्रहिक[10]माग्रहमन्धपरम्परां च । पुत्रपौत्रादिभिर्न कदापि कल्याणमाकाङ्क्षणीयम्, किन्तु स्वकृतैः शुभाचरणैरेव ।

इति श्रीचन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये

ऽष्टमः प्रकाशः

---

१. सत्यकथनम् (नाम्निवदः क्यप् च इति क्यप्) २. शुनीम ३. स्थिता, (ऊर्ध्वं ऊर्ध्वंन्दम : स्थितः, इति हेमचन्द्रः) ४. गृहान्तरं नीता ५. शुनी

श्रेष्ठी ने पूछा—'क्या यह सत्य है ? प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना मैं आपके कथन पर विश्वास नही कर सकता। आप मुझे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दें।'

महर्षि ने कहा—'यदि तू पूर्व जन्म की माता रूप इस कुत्ती को अन्दर ले जायगा तो मेरी कल्पना है कि अत्यन्त लोभाकुल यह कुत्ती अपने हाथो से छुपाए हुए निधन पर जा खड़ी रहेगी।'

महेश्वर श्रेष्ठी ने कहा—'मैं आपके कथन की अभी परीक्षा करता हूं।'

महर्षि ने कहा—'इसका कौन निषेध करता है ? जैसी तुम्हारी इच्छा।' तब तत्काल ही श्रेष्ठी उस कुत्ती को अन्दर ले गया। वह एक स्थान पर जा खड़ी हुई जहाँ निधि गड़ी हुई थी। महेश्वर ने शीघ्र ही कुक्करी को एक ओर हटाकर उनके नीचे की भूमि को खोदा। उसमें से स्वर्ण प्रधान निधि को पाकर उसे पूर्ण विश्वास हो गया। इस स्थिति से वह शोक के समुद्र मे डूब गया। हा ? क्या यही जगत् का स्वरूप है ? मेरे जीवन का आधार यह कुमार जार है। खेद ? खेद ? मैं आततायी हूं ! मैंने अपने पिता को भी मार डाला, जननी को भी पीटा। मेरे जैसे अविनीत पुत्र का जो कि अपने माता के लिए इतना क्लेशकारी हुआ है, जन्म ही नही होता तो क्या ही अच्छा होता ? ऐसी श्राद्धविधि को नही करना ही अच्छा था। इस प्रकार के क्लेशो से परिभूत हुआ संसार को छोड़ने का इच्छुक हुआ। पवित्र चारित्र को ग्रहण कर, घोर तपस्या, कर सुख से देवलोक चला गया। इसलिए तस्करेश ? मिथ्यात्व को छोड़, आग्रह का त्याग कर। पुत्र-पौत्र से कभी भी कल्याण की आकाक्षा नही करनी चाहिए। किन्तु स्वकृत शुभ आचरणों से ही यह होता है।

आठवां प्रकाश समाप्त

६. भूमिगतनिधानसमीपम् ७. निमग्नः ८. न करणं श्रेय इत्यर्थः। ९. एकार्णवीभूतम्-परिव्याप्तम् १०. आभिग्रहिकम्=कुमताग्रहरूपम्



नवमः प्रकाशः

बोधसौधमारूढः प्रभवः शान्तरसकिरा गिरा प्रोवाच—"जम्बूः ! त्वमेव धन्यधन्योऽसि, अनन्योऽसि त्वमेव चाध्यात्मपथि प्रस्थितानां नृणाम् । प्रथममेवाहं तव दर्शनात् प्राप्ताकर्षणः, किन्तु त्वद्दार्ढ्यमधिगन्तुमिच्छता कतिचन वैषयिकाः प्रलोभास्तव पुरस्तादुपढौकिताः । वशिनां वरेण्य ! अनुत्तराणि त्वदुत्तराणि विहितात्मदिग्दर्शनानि निदर्शनानि चाकर्ण्य मदीयहृदयमपि परिवर्त्तनमाकाङ्क्षति । किं बहुना ? तवाऽन्वग्[1] भवेयमित्यपि साहसं चादधाति । वीरवर ! धार्मिकाणां धर्मधुरन्धरत्वं न यादृग् गौरवं स्पृशति तादृक् कापथपान्थानां पारिपन्थिकानां हृदयपरिवर्त्तनम् । महामहिमन् ! त्वदुपदेशसुधां मनोहृत्य निपीयेमा अभिजाता[2] जाता वैराग्यसङ्गिन्योऽङ्गनाः किमिदं न महच्चित्रणीयम् । यासामग्रतो विडौजा[3] अपि त्यक्तौजास्तासां[4] पुरस्त्वं ब्रह्मव्रतबोधकरः । यासामेकः कटाक्षक्षेपोऽपि तपसा तनूभूततनुं तपस्विनमपि तरलीकरोति ताः प्रतिबोध्य त्वया त्यागपथि पुरश्चारिण्यो[5] विहिताः । ओः ! "याः कन्दर्पदर्पशालिन्यस्त्वां चालयितुं भवनिषद्वरे[6] निपातयितुं चैकीभूय कृतनिश्चयाः समागुस्ताः सर्वा अपि त्वत्तः संजाताः । उत, स्पर्शमणिं कर्तयितुकामा कृपाणी न किं काञ्चनीं दशामापनीपद्यते[7] ? जागरूकहृदय ! झगिति मोहशय्यायां शयानं संसारमुज्जागरय, तारय पुनस्तितीर्षून् नरान् । साम्प्रतमहमपि मदीयां चौरपञ्चशतीं प्रतिबोधयामि, नयामि च

---

१. अनुगामी २. कुलीनाः, (कुल्यः कुलीनोऽभिजातः, इति हेम०) ३. इन्द्रः



नवां प्रकाश

प्रभव को ज्ञान हो गया। उसने शांत वाणी से कहा—'जम्बू ! तू धन्य है, तू ही अध्यात्ममार्ग पर चलने वालो मे अनन्य है। मैं तेरे प्रथम दर्शन से ही आकृष्ट हो गया था, किन्तु तेरी दृढ़ता जानने के लिये मैंने कई वैषयिक प्रलोभन तेरे सामने रखे। हे जितेन्द्रिय ! तेरे अनुसार उत्तर और आत्मा का दिग्दर्शन कराने वाले दृष्टान्त सुन कर मेरा हृदय भी परिवर्तित हो गया है। ज्यादा क्या कहूँ ? मैं तेरा अनुगामी बनूं—यह साहस भी मुझ मे उत्पन्न हुआ है। हे वीरो मे अग्रणी ! धार्मिक व्यक्तियों की धर्म धुरन्धरता जितनी महत्वपूर्ण नही है, उतना महत्वपूर्ण है उन कुपथगामी चोरो का हृदय-परिवर्तन करना। महामहिम ! तेरे उपदेशामृत को जी-भर पीकर ये कुलीन अंगनाएं तेरी साथिनी बनीं—क्या यह अत्यन्त अद्भुत नही है ? इन ललनाओ के आगे इन्द्र का बल भी क्षीण हो जाता है; उनको तू ब्रह्मचर्य का बोध देने वाला है। तपस्या से क्षीण शरीर वाले तपस्वी भी जिनके एक कटाक्षक्षेप मात्र से विचलित हो जाते है उनको प्रतिबोधित कर तूने उन्हे त्यागमार्ग पर अग्रसर किया है। ओह ! कन्दर्प के दर्प से गर्वित होती हुई जो स्त्रियां तुम्हे विचलित नही कर सकी और तुम्हे संसार के कर्दम मे डालने के लिये जिन्होने निश्चय कर लिया था वे भी सभी तुम्हारे वशवर्ती हो गईं ? स्पर्शमणी (पारस) को काटने मे उद्यत कृपाणी क्या सोने की नही हो जाती ? हे जागरूक हृदय ! मोह की शय्या मे सोये हुए संसार को शीघ्र जागृत करो और संसार सागर से तैरने के इच्छुक व्यक्तियो को तारो। अब मैं भी अपने

---

४. त्यक्तपराक्रमः ५. अग्रगामिन्यः ६. संसारकर्दमे ७. अतिशयेन प्राप्नोति

त्वया नीयमानं मार्गम् । एवं निगद्य तस्करराट् किंकृतमियत्कालमिति कौतूहलाकुलान् स्वानुचरान् प्रपेदे, सहजसमुत्थया सरस्वत्या च निजगाद—"चौराः ! अद्य मयैको महान् नवीनः पश्यतोहरः[१] सप्रैक्षि; यस्याग्रतोऽहं सर्वथाप्यकिञ्चित्करः संवृत्तः । अहो ! वयं तु स्वसत्तां संगोप्य गृहपतिमजागरयन्तो मोषयामः[२] परमनेन तु प्रजागर्यं मन्मानसमचोरि । साम्प्रतमहं तदधीनो वर्त्ते, केवलं वो[३] नवोदन्तं[४] जिज्ञापयिषुरेवात्र समागाम् । सम्प्रति नाहं भवदाधिपत्यमनुभवामि, किन्तु तस्य महामनसो दास्यं स्वीकुर्वाणः स्वं कृतार्थमामनामि" ।

सर्वेऽपि सखेदमाश्चर्यमाचिन्वानाश्चौराः किं जातमित्युत्कलिकया[५] सकलं वृत्तान्तं श्रोतुमुत्सहमाना बभाषिरे—"प्रभो ! किमद्य भवतां भाषा नितान्तमन्यादृशीमाशामासेवते[६]? कथमद्य भवतां दृष्टिरन्यविधां सृष्टिं सिसृक्षति[७] ? किमुताद्य भवतां प्रतिभा बिभर्ति भास[८]मन्यादृशीम् ? भवन्तस्तु यदृच्छया जनान् भ्रामयितुमलम्भविष्णवस्तर्हि भवतोऽपि भ्रामयितुं क्षमः कोऽन्यो निकृतिपरः[९] समवतीर्णः ? अस्तु, किमभूदिति किञ्चित्स्पष्टनीयम्" ।

प्रभवः—सहचराः ! किमु वर्णयामि ? दृष्टो मयाद्यैको वरेण्यो वर्णी, विचित्रो योगी, नवीनो मुनिः, प्रत्यक्षश्च धर्मः । चित्रं यस्य सम्पदं जिघृक्षवः स्तैन्यं च कर्तुं शनकैः समागता वयम्, स तु प्रातः सर्वमपि विभवव्रातं जिहासति पिपासति, च शान्तसुधारसम्। अष्टावपि नवोढाः प्रबुद्धास्तमनुकर्तुमुत्सहन्ते । तस्य मनस्विनोऽलौकिकं त्यागं निरीक्ष्य तेनाऽमा धर्मकथां च विधाय स्वमपि तच्चरणे प्राभृतीकर्त्तुं[१०] कृतप्रतिज्ञोऽस्मि । भद्राः ! मया घनं दुश्चरितमाचरितम्, लोप्त्रमपि[११] भृशं दुर्व्यसनसेवायां व्यापारितम्, अनेके निरपराधा जना विजनवासिनो व्यधायिषत, अनेके कुटुम्बिनो मयोत्पीडिता घनामापदमनुभवन्ति, अनेकाश्च अबला विलपन्त्यो मामाक्रोशन्ति । हन्त !

---

१. चौरः (यः पश्यतोहरेदर्थं, स चौरः पश्यतोहरः, इति हेम०) २. स्तैन्यं कुर्मः ३. वः=युष्मान् ४. नव्यवृत्तान्तम् ५. उत्कण्ठया ६. "आशाम्"=दिशम्

पांच सौ चोरों को प्रतिबोध देता हूँ और तुम्हारे मार्ग पर ले आता हूँ।' यह कहकर तस्करेश अपने साथियों के पास आया। इतने समय आपने क्या किया—इस कुतूहल से सभी साथी आकुल थे। उसने सहज वाणी में कहा—'चोरो! आज मैंने एक महान नवीन चोर को देखा। जिसके आगे मैं सर्वथा अकिञ्चित्कर हो गया। अहो हम तो अपने आपको छुपाकर गृहपति को बिना जागृत किए चोरी करते है, किन्तु उसने जागृत कर मेरा मानस चुराया है। अब मैं उसके अधीन हूँ, तुम्हे केवल नए वृत्तान्त की जानकारी देने के लिए यहां आया हूँ। अब मैं तुम्हारा स्वामी नही हूँ किन्तु उसकी दासता स्वीकार कर अपने आपको कृतार्थ मानता हूँ।'

सभी चोरों को सखेद आश्चर्य हुआ। सारे वृत्तान्त को जानने की उनमें उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उन्होने कहा—'प्रभो आज आपकी वाणी अन्य प्रकार की मालूम हो रही हैं। आज आपकी दृष्टि दूसरी सृष्टि करना क्यों चाहती है? आज आपकी प्रतिभा बदली हुई क्यों है? आप अपनी इच्छा से लोगो को चक्कर में डालने मे समर्थ हैं तब आपको भी चक्कर मे डालने वाला कौन दूसरा मायावी अवतरित हुआ है? स्वामिन्! हम यह विश्वास नही कर सकते कि आपको भी कोई मोहित कर सकता है। अस्तु क्या हुआ हमको आप थोड़ा स्पष्ट करें।'

प्रभव ने कहा—'साथियो! क्या कहूं? मैंने आज एक वरेण्य ब्रह्मचारी, विचित्र योगी, नवीन मुनि और प्रत्यक्ष धर्म को देखा। महान् आश्चर्य है कि जिसके धन को ग्रहण करने के लिये, चोरी करने के लिये हम गये थे, वह व्यक्ति प्रात:काल ही समस्त वैभव का त्याग करेगा और शांत सुधारस को पीना चाहेगा। आठो नई वधुएं प्रतिबोध पाकर उसका अनुकरण करने के लिए उत्साहित हो रही हैं। उस मनस्वी का अलौकिक त्याग देख कर तथा उसके साथ धर्म-वार्ता कर मैंने भी अपने आपको उसी के चरणों मे भेंट करने की प्रतिज्ञा की है। भद्र! मैंने बहुत दुराचरण किए हैं। चुराए हुए धन का भी मैंने दुर्व्यसनो मे व्यय किया है। मैंने अनेक निरपराध मनुष्यो को गृहहीन बना दिया है। मैंने अनेक कुटुम्बियो को पीड़ित किया है जो आज भी अत्यन्त आपत्ति का अनुभव कर रहे हैं, अनेक अबलाएं विलाप करती

---

७. स्रष्टुमिच्छति ८. आभाम् ९. कपटपटुः "कुसृतिर्निकृतिश्च सा", इति हेम० १० ढौकयितुम् ११. अपहृतं धनम्।

साम्प्रतमहमखिलानामागसामेकान्ततः प्रायश्चित्तं करिष्ये, घोरं संयममादाय निजात्मकाञ्चनं च निर्मलं विधास्ये, अतो यूयं यथेच्छं कर्त्तुं प्रभवथ, अहमिदमेवाचरिष्यामीति न सन्देह्यं मनागपि ।

सर्वेऽपि तस्करा अतर्कितां कामपि नव्यां वार्तां निशम्य व्यात्तमुखं स्फारितनयनं जडिमानमाप्ताः । नाथ ! किमद्य भवता वैरङ्गिकीं कथां प्रथयताऽस्मदीयाऽऽशाया उपरि पाथः[1] प्रसार्यते ? वयं तु भवदधीना वर्त्तामहे, जीवनसर्वस्वमपि भवन्तमेव मन्यामहे । यदि श्रीमन्तः श्रामण्यमाश्रयिष्यन्ति तदानीमस्माभिर्गृहे स्थित्वा किं विधातव्यम् ? वयमपीदानीमिव न किं भवदनुगामिनः संपत्स्यामहे ? प्रभो ! वयं सत्या भक्ता अनुचरास्तु तदानीमेव भविष्यामो यदा दुर्गमेऽपि पथि न भवत्सङ्गमं मोक्ष्यामः । अस्तु यन्निश्चितं तद् विधीयताम्, वयं त्वनुगा अनुगा एवोपस्थास्यामहे । कथमेतद्रमणीयतरं स्याद् यत् स्वामी स्वर्गाधिकारी, सेवका नारकार्हाः स्युः, नैवम् वयं त्वनुगमनमेव विधास्यामहे, नात्र चिन्तनीयं किञ्चित् ।

स्वानुवर्त्तिनां विचारचङ्गिमानमङ्गीकृत्य भृशमानन्दितः प्रभवः प्रोचे—"भ्रातरः ! धन्या यूयं यत्स्वामिना सह सम्यक् सौहार्द्दं प्रतिपालयितुं कृतसंकल्पा वर्त्तध्वे । अहो ! पराभूतमारस्य[2] जम्बूकुमारस्य लोकोत्तरं कृत्यं निरीक्ष्य विचार्य च न के निर्विण्णाः स्युः ? एतादृशं सांयान्त्रिकमासाद्य[3] न के भवार्णवं तितीर्षेयुः ? अतो यथासुखं सृजत, मा प्रतिबन्धं च कुरुत ।

इतः प्रत्यग्रां[4] क्रान्तिमाधाय धाम्नां पति[5]रुदियाय । अद्य बहु शुभं भावीति व्याकृतिपरा द्विजा[6] मधुरं कूजितुं लग्नाः। उत्कृष्टमादर्शमद्यतनमहो[7] दर्शयिष्यतीतीव सोत्साहं कृतजागरा नागराः। अद्य जैनेन्द्रोऽध्वा महद्गौरवमाधास्यतीतीव प्रोत्फुल्लवदनारविन्दा विरेजिरे मुनीन्द्रचन्द्राः । किं गृहमेधी[8] वा पापप्रतिषेधी मदङ्गजो भावीत्यनल्पविकल्पैः साकं विहितान्तर्जल्पौ धारिणीऋषभदत्तावपि संजातजागर्यौ ।

---

१ नीरम् २. जितकामदेवस्य ३. पोतवाहकम्, (सांयान्त्रिकः पोतवणिक्, इति हेमचन्द्रः) ४. नूतनाम्, (प्रत्यग्रं नूत्ननूतने, इति हेमचन्द्रः) ५. सूर्यः ६. पक्षिणः ७ अहः=दिनम् ८. गृहस्थः

हुई मुझे कोस रही है। हन्त ! मैं सभी पापों का एकान्त रूप से प्रायश्चित्त करूंगा। घोर संयम ग्रहण कर अपनी आत्मा निर्मल बनाऊंगा। अत: तुम अब अपनी इच्छानुसार करो। मैं यही आचरण करूंगा इसमे किंचित् भी सन्देह मत करो।'

इस अतर्कित और नई बात को सुनकर सभी चोर स्तब्ध हो गए। उनके मुंह खुले ही रह गए, आँखे अनिमेष बन गईं। वे जड़वत् हो गए। उन्होंने कहा—'नाथ ! आज आप वैराग्य की बातें कह कर हमारी आशा पर पानी क्यों फेर रहे हैं ? हम तो आपके अधीन हैं। हम आपको ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं। यदि आप श्रामण्य अंगीकार करेंगे तो हमें घर मे रहकर क्या करना है ? क्या हम भी आपकी तरह आपके अनुगामी नही बने रहेगे ? प्रभो ! हम भी आपके भक्त तथा सच्चे अनुचर तभी होगे जब दुर्गम मार्गो मे भी हम आपके सहवास को नहीं छोड़ेगें। अस्तु, जो आपने निश्चित किया है वह करें। हम आपके अनुचर है और अनुचर ही रहेगे। यह कैसे ठीक हो कि स्वामी तो स्वर्ग के अधिकारी बनें और सेवक नरकगामी बनें। यह कभी नहीं होगा। हम आपका अनुगमन करेंगे—इसमे कुछ भी चिन्तनीय नही है।'

अपने अनुगामियों की विचार चारुता को पाकर प्रभव अत्यन्त आनन्दित हुआ। उसने कहा 'भाइयो ! आप धन्य हैं कि आप स्वामी के साथ सम्यक् सौहार्द पालन करने के लिए कृत संकल्प हैं। अहो। काम-देव पर विजय पाने वाले जम्बूकुमार के लोकोत्तार कृत्य को देखकर या उसका विचार कर कौन व्यक्ति विरक्त नही होता ? इस प्रकार के सार्थवाह को पाकर कौन व्यक्ति भव सागर को तैरना नही चाहेगा ? अत: आप अपनी इच्छानुसार करें, विलम्ब न करें।'

उधर नवीन क्रांति को लेकर सूर्य उदित हुआ। आज बहुत शुभ होगा—यह बताने के लिए पक्षी मधुर स्वर से कूजन करने लगे। आज का दिन उत्कृष्ट आदर्श दिखाएगा—यह जानकर सारे नागरिक उत्साह से जागृत हुए ! आज जिनेन्द्रदेव का मार्ग महान् गौरवशाली होगा—यह दिखाते हुए सभी मुनि विकसित वदन होकर बैठे थे। मेरा पुत्र गृहस्थाश्रम मे रहेगा या संयमी बनेगा—इस प्रकार के अनल्प—विकल्पों के साथ धारणी और ऋषभदत्त भी जाग गए।

अष्टाभिः पत्नीभिः सार्धमितो जम्बूकुमारः साक्षाद्धर्मावतार इव पितरौ प्रणन्तुं नीचैरवततार । वैराग्यगद्गदप्रमदाजनपरिवारितः प्रोन्मिषद्धर्षोत्कर्षं मातरपितरौ प्रणनाम। कोऽध्वा निर्णीतस्त्वयेति शनैः ससाध्वसं पृच्छाप्रह्वे पितरि सानन्दं नन्दनः प्रोवाच —"पितरौ ! सहजसमुद्भूतवैराग्यरागरक्ताश्चारुचर्वितविचारैः सुस्थिरंमन्या धन्या न कदापि चलितचेतसः सम्भाव्यन्ते । चित्रं त्विदमेव समुज्जृम्भते यत्सुकुलीना नवीनास्तावकीना अष्टावपि स्नुषाः सहर्षं मामनुसर्त्तुमुत्कण्ठिता वरीवृत्त्यन्ते । वीरोपासकौ ! इदानी वीरमन्यानमून् सानन्दमाज्ञापयतां वर्धयतां[1] च सहजसमुत्थेन शुभाशिषा ।

पुत्रप्रपञ्चितां वाचं निशम्याऽतीव खिन्नाननौ जननीजनकौ स्वगतं विचिन्तयतः स्म—"हा ! किमिदमभूत् ! अस्माभिस्तु निर्मितानि मनोरथमन्दिराणि किमभ्रविलायंविलीनानि[2] ? यथा—साम्प्रतं मदीयो जम्बूः कृतदारसंग्रहो निजाग्रहमव्यग्रमपहास्यति, अष्टाष्टनवोढानव्यप्रेमपथारूढो मूढो व्रतोरीकरणवार्त्तामपि विस्मरिष्यति वितरिष्यति च चारित्राय जलाञ्जलिम् । हन्त ! एकापि द्वितीया[3] कथं नरं वानरमिव नर्त्तयति परावर्त्तयति च बाल्यकालसञ्चितान् शुभान् सकल्पान् । एता नागर्योऽप्यष्टाष्टसम्भूता विलासिन्यो न कथमेनं चालयितुमलम्बभूवुः ? हा ! व्रजत्यस्माकं जीवनसर्वस्वम्, नयनयोश्च ज्योतिः, साम्प्रतं किं कुर्मः ? क्व यामः ? नूनमेनं गृहे रक्षितुं सर्वेऽपि विहिता हितोपाया नैष्फल्यमायाताः, जाता परितः शून्यता, प्रसृता च सर्वतोऽन्धकारलहरी नः । अहह ! स्वप्नं तु न सेवामहे ? अहो ! पुत्रस्तु प्रव्रज्यायै व्रजति वयं गार्हस्थ्यं भुञ्ज्मो[4] धिग्-धिग् ! नैतदौचितीमुच्चिनोति बत ! बत ! यस्य भोगकालः स तु योगी, येषां योगाऽवसरस्ते संसारासक्ताः । यः सुकुमारः कुमारः स तु कर्कशतपस्यायै चरति, वयं वलितपलिता गृह सेवामहे । यस्य खादनस्य पानस्य च दिनानि स तु विरसभोगी येषां खादतां दन्ता घृष्टा स्ते वयमद्यापि धृष्टाः षड्रसास्वादनं कर्त्तुम् । नैवम्, वयमपि वीराग्रणीं

---

१. द्विवचनम् २. अभ्रवद् नष्टानि (कर्मणि चोपमाने इति णम्) । ३. सहधर्मिणी (द्वितीया सहधर्मिणी इत्यमरः) ४. "भुञ्जोऽपालने" इति परस्मैपदम् ।

इधर साक्षात् धर्म का अवतार जम्बूकुमार अपनी आठों पत्नियों के साथ माता-पिता को प्रणाम करने के लिए नीचे आया। वैराग्य गद्-गद, ललनाओ से परवेष्टित, जम्बूकुमार ने विकसित हर्षोत्कर्ष से माता-पिता को प्रणाम किया। शंकित होते हुए पिता ने धीरे से जम्बूकुमार से पूछा—तुमने कौन सा मार्ग निश्चित किया है ? जम्बू कुमार ने आनन्द से कहा—माता-पिता ! जो व्यक्ति सहज वैराग्य के राग से रक्त होता है और जिसके विचार सुस्थिर होते हैं, वह कभी विचलित नही होता। आश्चर्य तो यही है कि आपकी सुकुलीन ये आठों नई वधुएं सहर्ष मेरा अनुसरण करने के लिए उत्कण्ठित हो रही हैं। हे महावीर के उपासको ! आज आप इन वीरों को आज्ञा दें। अपने शुभाशीर्वाद से इनका वर्धापन करें।'

अपने पुत्र की बातो को सुनकर माता-पिता खिन्न हो गए। उन्होंने मन ही मन सोचा—"हा ! यह क्या हुआ ? हमने जिन मनोरथों का निर्माण किया था, क्या वे बादलो की भांति विलीन हो गए ? हमने सोचा था कि हमारा जम्बू जो अभी अभी विवाहित हुआ है, अपना आग्रह छोड़ देगा और इन आठो वधुओं के नए प्रेम में मोहित होता हुआ व्रत अंगीकार करने की बात ही भूल जायेगा और चारित्र को जलाञ्जलि दे देगा। हन्त ! एक भी स्त्री मनुष्य को बन्दर की तरह नचा देती है और बाल्यकाल में संचित शुभ संकल्पो को परिवर्तित कर देती है। वहां अत्यन्त चतुर और परम सौन्दर्यशालिनी ये आठ विलासिनी अंगनाएं इसको विचलित करने मे समर्थ क्यो नहीं हुई ? हा ! हमारा जीवन सर्वस्व और आंख का उजाला चला जा रहा है, अब हम क्या करें ? कहां जाएं ? उसको घर मे रखने के लिए समस्त हितकारी उपाय निष्फल हो गए। चारों ओर शून्यता दीख रही है, हमारे चारों ओर अन्धकार छा गया है। अहो ! हम स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं ? अहो ! पुत्र तो प्रव्रज्या लेने जा रहा है और हम गार्हस्थ्य भोगें,—धिक्कार है, धिक्कार है। यह उचित नही है। बत! बत! जिसके भोग भोगने का समय है वह तो योगी हो रहा है और जिसके योग का काल है वे ससार मे आसक्त हो रहे हैं। जो कुमार सुकुमार है वह कर्कश तपस्या करने के लिए चला जा रहा है और हम जिनकी झुरियां पड़ रही है घर मे बैठे है। जिसके अब खाने पीने के दिन हैं वह अब नीरस भोगी बन रहा है और जिनके खाते-खाते दांत घिस गए, वे हम षड्रस भोजन के लिए धृष्ट हो रहे हैं। यह नही

नन्दनमनुकरिष्यामः संचरिष्यामस्तेन परिष्कृते च पथि" । एवं चेतसि निश्चित्य प्रवीरमानिनौ सहर्षं प्रत्यूचाते—"नन्दन ! सानन्द स्वविधित्सित[1] साधय, समाराधय लघ्वात्मनीनं कार्यम् । परं सांयान्त्रिकेन त्वयेषत्करो[2] मादृशामप्युद्धारो वर्त्तते ऽतो वयमपि त्वामनुकर्त्तुमुत्सहामहे, तारयास्मादृशान्, लभस्वानृण्यं च स्वपित्रोः" ।

श्रवामृतं स्रवता मधुरमास्रवेण[3] सुतेन न्यवेदि—'पितरौ ! भव्या भवदीया भावना । देवार्यवर्याणामन्तेवासिनो यादृशाः प्रवीराः श्रूयन्ते तादृक्षैव वीरता भवद्भ्यां स्फुटं प्रदर्शिता । मय्यपि प्रादुर्भवन्तः सुसंस्कारा भवत्सकाशादेव कक्षीकृताः सन्ति, धन्यंमन्योऽहं यस्य वर्षीयांसो[4] मनस्विनो विलसन्ति ।

अस्तु, प्रजिघाय[5] स्वनिर्णीतः शुभसन्देशोऽष्टानामपि जम्बूसधर्मिणीनां मातृपितृप्रमुखाणां पार्श्वम्-यत्सपत्नीको जम्बूरद्यभागवतीं दीक्षां नूनं कक्षीकरिष्यतीति । प्रातः किं भावीति विमर्शपरायणास्तासां पितरः पूर्वमेवासन्, इदं वाचिकमाकर्ण्य शून्यमनस्का इव समजनिषत । हा ! कां कां बृहदाशां हृदि निदधानाः परमप्रेमपोषिता नः सुताः पतिं वव्रिरे, साम्प्रतं सर्वमप्यन्यथैव जातम् । हन्त! दुराराध्या भाविनी रेखा । अहो ! तन्वीमप्यर्त्तिं[6] सोढुमनर्हास्तास्ताः तन्वङ्ग्यः कथङ्कारमर्त्तिमयं संयमभारं वहिष्यन्ते ? अस्माकमेकमपि कटुशब्दं कर्णे कृत्वा शीताहतकमलिन्य इव या बाला विमनायिता भवन्ति स्म, कथमिव ता येषां केषांचिद् द्वेषदुष्टानाक्रुष्टान् सहिष्यन्ते ? भोजनयोजनायां स्तोकमपि चेत् सामग्रीवैकल्यं तदात्वनाशित[7]म्भवमशनमभवद् यासां ताः प्रतिसद्म भ्रामं-भ्रामं यदेकत्रीकृतं भैक्षं[8] कथमिव भक्षिष्यन्तितराम् ? उपवनेऽपि यासामयानं गमनं खेदकृदासीत् ताः कथं स्वोपधिवीवधं[9]स्वांसे[10] बिभ्राणा उज्झितोपानत्काः परःसहस्रान् क्रोशान् संक्रमिष्यन्ति ? अहह ! स्वप्नेऽपि स्वीकृतः संयमः समुद्वेजयति वीरमानिनामप्यन्तःकरणानि, त कथमिव पारं नेष्यन्ति तासां नवनीतकोमलं करणम्[11]? उत, सर्वमपि शैथिल्यं

---

१. त्रिधातुमिष्ठम् २. सुकरः ३. आज्ञाकारिणा (आस्रवो वचने स्थितः इति हेमचन्द्रः) ४. ज्यायासः ५. प्रेषितवान् ६. सूक्ष्मामपि ७. "भावेचाशिते भुवः

होगा, हम वीरों मे अग्रणी अपने नन्दन का अनुकरण करेंगे और उसके द्वारा परिष्कृत मार्ग पर चलेंगे।" इस प्रकार अपने मन मे निश्चय कर उन्होने प्रत्युत्तर दिया—'नन्दन ! आनन्द से तू अपने इच्छित मार्ग को साध, शीघ्र ही तू आत्म हित की आराधना कर। तुझ जैसे तारनहार से हमारा भी कल्याण होगा। हम भी तेरा अनुकरण करने के लिए उत्साहित हो रहे है। हम जैसो को तू तार और अपने माता पिता के ऋण से मुक्त हो।'

विनीत पुत्र ने मधुर वाणी से कहा—'पितरो ! आपकी भावना सुन्दर है। भगवान् महावीर के अन्तेवासी जितने वीर सुने जाते हैं वैसी ही धीरता आपने दिखाई है। मेरे मे प्रकट होने वाले सुसंस्कार भी आप से ही मैंने पाए हैं। धन्य हूं मैं जिसके बडे-बूढ़े भी मनस्वी है।'

अस्तु, जम्वू की आठों पत्नियो के माता-पिता के पास यह शुभ सन्देश भेजा कि जम्वूकुमार अपनी आठो पत्नियो के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण करेगा। प्रातः काल क्या होगा ? यह विचार-विमर्श कर ही रहे थे कि उन्होने यह वात सुनी। वे शून्यमनस्क हो गये। हा ! परम प्रेम से पोषित हमारी पुत्रियो ने किन किन विशाल आशाओ को हृदय मे धारण कर विवाह किया था, आज वह सभी विपरीत हो रहा है। हन्त ! भावी की रेखा दुराराध्य होती है। अहो ! वे कोमलाङ्गी पुत्रियां थोड़ा भी कष्ट सहन नही कर सकती थी, वे कष्टमय संयम के भार को कैसे सहन करेंगी ? हमारा एक कटु शब्द भी सुनकर जो बालाए शीत से प्रताड़ित कमलिनी की तरह हो जाती थी, वे किस प्रकार जिस किसी के द्वेष-दुष्ट आक्रोशो को सहन करेंगी ? यदि कभी भोजन की सामग्री मे थोड़ी-सी कमी हो जाती तो उनका भोजन अतृप्तिकर हो जाता, वे घर-घर भिक्षा से एकत्रित किये गए भोजन को कैसे करेंगी ? उपवन मे भी वाहन के विना जिनका जाना खेदकर हो जाता, वे अपने उपकरणो के भार को कंधो पर लादकर विना जूते हजारों कोश कैसे चलेंगी ? आह ! स्वप्न में भी स्वीकृत संयम का विचार वीर पुरुषो के मन को भी कम्पित कर देता है तो इनका नवनीत-सा कोमल शरीर उस संयम का पार कैसे पाएगा ? अथवा सारी शिथिलता या दृढता मन पर

ख.", आशितो भवत्यनेनेत्याशितम्भवमशनम् ततो नञ। ८. भिक्षाणां समूह. ९. स्वोपकरणभारम् (भारे विवधवीवधौ, इति हेमचन्द्रः) १०. स्वस्कन्धे ११. वपुः

दार्ढ्यं वा मनोनिर्भरं वेविद्यते, जाते मनोद्रढिम्नि सर्वमपीषत्करं महामनसाम्। साम्प्रतमस्माभिः किं करणीयमिति न निर्णयति चलाचला प्रकृतिः (वीरतां समुज्जीवयन्तः)। अहो! वयं किं कार्पण्यमाराधयामः? किमु नानन्तशक्तिधारी नामास्माकमात्मा? किमु न वयं लोकोत्तरं जामातृ-पुत्र्यनुकरणं कर्त्तुं शक्यामहे? अवश्यं वयमेव संयममादास्यामहे, समुपासिष्यामहे चात्मना परमात्मानम्, को नु एतादृशः स्ववसरो मेलिष्यति पश्चात्? इत्थं सुचारु विचार्य पुनः सन्देशः प्रेषितः—"यद् भवतां वैश्वजनीनः सन्देशः सम्प्राप्तः। धन्यधन्याः श्रीमन्तो यामिन्यां यदुपयामं[1] विधाय व्युष्टे[2] संयमाय निष्टङ्कनम्। समुल्लसति समस्तेऽपि साधुभोग्यसामग्रीसन्दोहे यौवनारम्भेऽनुनयति यौवतेऽपि[3] च सन्न्यासपथि पदविन्यासोऽमरेतिहासपृष्ठेषु स्वर्णाक्षरैर्लिखितो भविष्यतीति न संशयः। गुणाढ्य! अस्मदीयाः परमप्रेमसुधासारिण्यः सुकुमाराः सुता भवन्तमनुकर्त्तुं कृतोत्साहा इति महदद्भुतं विभाति नूनमस्मन्मनसि। उत, क्षणमात्रसज्जनसङ्गतिः किं किमतर्कितं परावर्त्तनं नाभिलषति? न जायते किमथवा झगिति स्पर्शमणियोगादऽयोऽपि स्वर्णमयम्। इतरच्च, अदम्भभाजा भवता पूर्वमेव स्पष्टीकृतमासीत् यदहमहमुंखे चारित्र्यचञ्चुर्भविष्यामीति। आस्माकीनाः पुत्र्योऽपि मार्गद्वयं निर्णीयैव भवन्त पतितया स्वीचक्रिरे; अतः साध्यतां सुखेन संयमो वयमपि भवत्पृष्ठगा भविष्यामो भवतु भवान् प्रष्ठः[4], नष्टा भवन्तु सर्वा अपि विघ्नपरम्पराः, अरिष्टतातिरस्तु[5] जगतां ते कल्याणी च कल्पना।

सर्वस्मिन्नपि नगरे सूर्यदीधिति[6]रिव प्रकाशमाप्ता जम्बूसंयमकथा। विस्मयस्मेरवदनास्त्रिकचत्वरादिष्वेकीभावमाप्ता जना एतामेव कथां पप्रथिरे। कश्चिज्जम्बूकुमारस्यालौकिकं वैराग्य स्तौति, इतरस्तत्पत्नीनां पातिव्रत्यं विवृणोति, परस्तस्करपञ्चशतीं वैराग्यमापन्नां नौति, एके तत्पितृचरणानां धैर्यं प्रशंसन्ति, अन्ये सुधर्मस्वामिनां

---

१. विवाहम् २. प्रभाते,(व्युष्टं, विभातं, प्रत्यूषमिति हेमचन्द्रः। ३. युवतीना व्रजे ४. अग्रगामी ५. क्षेमङ्करः, (क्षेमङ्करो ऽरिष्टतातिरिति हेमचन्द्रः) ६. सूर्यद्युतिः

ही आधारित है। मन की दृढ़ता होने पर मनस्वी व्यक्तियो के लिए सभी सुकर हो जाता है। अब हमें क्या करना चाहिए, यह हमारी चंचल प्रकृति निर्णय नही कर रही है। (वीरता को जागृत करते हुये) अहो ? हम क्यो कृपणता की आराधना करे ? क्या हमारी आत्मा में अनन्त शक्ति नही है ? क्या हम लोकोत्तर प्रवृत्ति मे संलग्न होने वाले हमारे जामाता और पुत्रियों का अनुकरण करने में असमर्थ है ? हम निश्चित ही संयम ग्रहण करेंगे और आत्मा से परमात्मा की उपासना करेंगे। ऐसा सुअवसर आगे कब मिलेगा ?— इस प्रकार विचार कर उन्होने पुनः संदेश भेजा कि "आप का विश्व के लिये हितकारी सन्देश प्राप्त हुआ। आप धन्य हैं कि रात्रि में विवाह सम्पन्न कर प्रातःकाल संयम के लिये तत्पर हो गये। सुन्दर सामग्री की प्रचुरता और यौवन के प्रारम्भ मे भोग के लिये अनुनय करने वाली सुन्दर युवतियो का सान्निध्य होते हुये भी आप संन्यास-पथ पर पादन्यास कर रहे हैं यह इतिहास के अमर पृष्ठो पर स्वर्णाक्षरो से अंकित होगा, इसमे कोई सशय नहीं है। गुणाढ्य ! हमारी परमप्रिय सुकुमार बालायें आपका अनुकरण करने के लिए उत्साहित हैं, यह बात हमारे मन मे अपार विस्मय पैदा करती है, अथवा सज्जन व्यक्तियो का क्षणिक सहवास भी क्या अतर्कित परावर्त्तन नही ला देता ? क्या पारस का स्पर्श पा लोहा भी सोना नहीं हो जाता ? सरल हृदय! आपने तो यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि 'मैं प्रातःकाल चारित्र अंगीकार करूंगा' और हमारी पुत्रियो ने भी दो मार्गो का निर्णय करके ही आपको पति के रूप मे स्वीकार किया था। अतः आप सुखपूर्वक संयम की साधना करें, हम भी आपके अनुयायी बनेंगे। हमारी यही कामना है कि आप हमारे अग्रगामी हों, सारी विघ्नपरम्पराएं नष्ट हो और आपकी कल्याणी कल्पना जगत् का कल्याण करने वाली हो।

जम्बू के संयम ग्रहण की बात सारे नगर मे सूर्य की किरणो की भान्ति फैल गई। तिराहे-चौराहे पर लोक एकत्रित होकर अत्यन्त विस्मय से इसी बात का विस्तार करने लगे। कोई जम्बूकुमार के अलौकिक वैराग्य की स्तुति करता है, कोई जम्बूकुमार की पत्नियो के पातिव्रत्य धर्म की प्रशंसा करता है, कोई वैराग्य प्राप्त ५०० चोरों की सराहना करता है, कोई उनके माता-पिता के धैर्य की प्रशंसा करता है, कई सुधर्मास्वामी के गौरव का गान

गौरवं गायन्ति, अपरे जिनशासनं च प्रभावयन्ते। किं बहुना, सर्वत्रै-वेषा शुभा कथा समुज्जृम्भते, सर्वमपि नगरं मोमुदितं विकस्वर च विलोक्यते। केचित् पूर्वमेव सुधर्मस्वामिनां सभामध्यूषुः। इतरे जम्बू-मनुगन्तुं सज्जीभूय स्थिताः सन्ति। परे अहम्पूर्विकया जम्बूं द्रष्टुं मन्दिरस्याग्रतो भृशं सांकट्यमनुभवन्ति।

इतः सर्वेऽपि पञ्चशतसप्तविंशतिसंख्याका मुमुक्षवो भावभिक्षुकाः संभूताः। तदानीमेव जम्बूमनुकुर्वाणा, साटोपं प्रस्थिता, जनानां जय-जय, नन्द-नन्देति मुखरितदिगन्तरा, कोकिलकण्ठीनामद्भुतवैराग्य-मयमधुरगानैरोमाञ्चितजनसमूहा, दर्शनार्थिजनैरूर्ध्वीकृतमन्दिर-शिखरा, अनास्तिकानां परिवर्त्तितहृदयभावा जिनशासनमतीव समुद्दीपयमाना वैरङ्गिकानां शोभायात्रा उपसुधर्मस्वामि[1] संप्राप्ता।

प्रभुणा सम्यगुपदिश्य भावदार्ढ्यं परीक्ष्य सावद्ययोगान् प्रत्या-ख्याप्य च सर्वेऽपि लुञ्चिताः शिष्यत्वेनाङ्गीकृतास्ते अन्तःसाधुसभं[2] विरेजिरे, आत्मध्यानतल्लीना जीवनमुक्ताश्च सजज्ञिरे। धन्यं जिनशासनम् ?

इति श्री चन्दनमुनिविरचिते प्रभवप्रबोधे गद्यकाव्ये
नवमः प्रकाशः



१. सुधर्मस्वामिसमीपम् २. साधुसभामध्ये, "पारे मध्येऽग्रेऽन्तःषष्ठ्या वा" इति समासः

करते हैं, कई जिन-शासन की प्रभावना करते हैं; अधिक क्या कहे, सर्वत्र यही शुभ चर्चा चल रही थी। सारा नगर हर्ष-विभोर हो रहा था। कई व्यक्ति सुधर्मा स्वामी की सभा मे पहले ही जा बैठे। कई व्यक्ति जम्बू के साथ जाने के लिए सज-धज कर प्रतीक्षा करने लगे और कई व्यक्ति जम्बू को देखने के लिए उतावले हो उठे। मार्ग मे भीड़ इतनी थी कि सारा भूतल जन संकीर्ण हो गया था।

इधर सभी ५२७ व्यक्ति मुनि बनने के लिये एकत्रित हुए। उसी समय वैरागियो की वरयात्रा जम्बू के पीछे-पीछे ठाट से चलने लगी। लोगो की "जय-जय नन्द-नन्द" ध्वनि से सभी दिशाएं गूंज उठी। स्त्रियो के वैराग्यमय मधुर गान से सारा जन समूह रोमांचित हो उठा। मकानों के शिखर दर्शनार्थियो से भर गए। नास्तिक व्यक्तियो के हृदय को परिवर्तित करने वाली, तथा जिन-शासन को दीपाने वाली वह शोभायात्रा सुधर्मा स्वामी के पास पहुंची।

सुधर्मा स्वामी ने उन्हे उपदेश दिया। उनके भावों की दृढ़ता का परीक्षण कर उन्हे सर्व सावद्य योगो का प्रत्याख्यान कराया, उनका केश लुंचन कर उन्हे शिष्यत्व के रूप मे स्वीकार किया। वे सभी साधु-सभा मे शोभित होने लगे और साधना कर .आत्म ध्यान मे तल्लीन होकर जीवन-मुक्त हो गए। जिन-शासन धन्य है।

नवां प्रकाश समाप्त



अथ काव्यकर्त्तुः प्रशस्तिः

दुर्वारिसंसारसमुद्रमग्ना-नुद्धर्त्तुकामो जिनशासनेऽस्मिन् ।
बभूव भिक्षुर्भगवानदभ्र-भ्रमान्धकाराय सहस्रभानुः ॥१॥

एकैकतो विशिष्टा, आचार्या भारिमल्लाद्याः ।
संजातश्चाष्टमपदमधिकर्त्ता कालुरामाह्वः ॥२॥

शुष्का संस्कृतवाटी, सिक्ता सद्बोधपाथसा येन ।
सार्वत्रिकी प्रवृद्धिं, नीतस्तेरापथो लोके ॥३॥

तेषां चरणसरोजे, ज्ञानमरन्दं निपीय मधुप इव ।
मादृक्षोऽप्यल्पज्ञः, किञ्चिद् गुञ्जारवं कुरुते ॥४॥

अधुना नवमाचार्याः, श्री तुलसीत्याख्यया समाख्याताः ।
आदर्शदर्शनास्ते, भ्रामं-भ्रामं भुवं पुनते ॥५॥

अणुव्रतान्दोलनमिह, सामयिक नीतिधर्म निष्णातम् ।
येन साधु सञ्चाल्य, ख्यातिर्विष्वङ्मुखी नीता ॥६॥

मुनिपूनमचन्द्रो मां, प्रेरितवान् किमपि चारु निर्मातुम् ।
साहित्यसर्जने दृग्, यद् विलसति शासनाधिपतेः ॥७॥

अल्पसमासं सुलभ, बोधविवर्धकमसूक्ष्मबुद्धीनाम् ।
रचितं चन्दनमुनिना, काव्यमिद शान्तरससुहितम् ॥८॥

सिद्धिनभोऽभ्र[1]कराब्दे, ज्येष्ठे मासे तथा च सौराष्ट्रे ।
जामनगर्यां पूर्तिः, भव्यानां श्रेयसे भूयात् ॥९॥

॥ इति काव्यकर्त्तुः प्रशस्तिः ॥

। तत्समाप्तौ समाप्तमिदं काव्यम् ।

---

१. वि० सा० २००८ ज्येष्ठ मास

काव्य-कर्त्ता की प्रशस्ति

दुर्वार संसार-समुद्र मे मग्न व्यक्तियो का उद्धार करने के इच्छुक भिक्षु भगवान् इस जिन-शासन (तेरापंथ) मे हुए। विभ्रम रूपी सघन अन्धकार के लिये सहस्ररश्मि सूर्य के समान थे।

इस तेरापन्थ शासन मे भारिमल्ल आदि आचार्य एक-एक से विशिष्टतर हुए हैं। आठवें आचार्य कालूगणी थे।

उन्होंने शुष्क संस्कृत वाटिका को सद्‌बोध-जल से सीचा और तेरांपथ की सार्वत्रिक वृद्धि की।

उन पूज्यपाद के चरण-कमल मे रहकर मैंने मधुकर की तरह ज्ञान मकरन्द पीया है और इसीलिए मेरे जैसा अल्पज्ञ भी आज यत्‌किंचित् गुंजारव कर रहा है।

वर्तमान मे नवें आचार्यश्री तुलसी है। वे आदर्श-दर्शन है और घूम-घूम कर (भारत) भूमि को पवित्र कर रहे हैं।

उन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का निपुणता से संचालन तर बहुत ख्याति प्राप्त की है यह आन्दोलन सामयिक है और नीति-धर्म के उपदेश मे निष्णात है।

मुनिश्री पूनमचन्दजी ने सुन्दर काव्य के निर्माण के लिये मुझे प्रेरित किया। आचार्यश्री की भी साहित्य-सर्जन की ओर दृष्टि है, ऐसा मैंने सोच इस काव्य की रचना की।

यह काव्य अल्प समासवाला, मंद बुद्धि वाले व्यक्तियो के ज्ञान को बढ़ाने वाला, शान्तरस से परिपूर्ण और सुलभ है॥

इस काव्य की पूर्ति वि० सं० २००८ ज्येष्ठ मास मे सौराष्ट्र के प्रसिद्ध नगर जामनगर मे हुई। यह प्राणियो के कल्याण के लिए हो।

॥ इति समाप्तमिदं काव्यम् ॥